

तुलसी प्रज्ञा

अनुसंधान त्रैमासिकी



खण्ड १७

जुलाई-सितम्बर, १९६१

अङ्क २

तुलसीप्रज्ञा—त्रैमासिक अनुसंधानपत्रिका जैन विश्व भारती संस्थान, लाडनू—३४१३०६

खण्ड-१७

जुलाई-सितम्बर

अंक २

बीस रुपये

शुल्क—४५) वार्षिक : आजीवन—५०१)

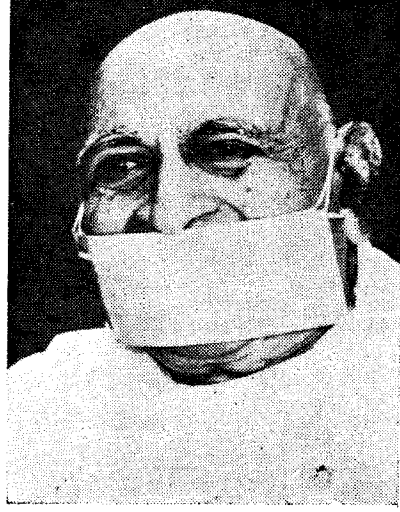
- ० 'तुलसी प्रज्ञा' प्रतिवर्ष—मार्च, जून, सितम्बर और दिसम्बर माह के तीसरे सप्ताह में प्रकाशित होती है।
- ० प्रकाशनार्थ लेख इत्यादि कागज के एक ओर टंकण कराके भेजें। साधारणतया दस पृष्ठों से बड़ा लेख न हो। जरूरी हो तो विवेच्य विषय दो भागों में विभाजित किया जा सकता है।
- ० 'संपादक-मण्डल' द्वारा लेखादि में काट-छांट सम्भव है किन्तु भाव और मंशा को सुरक्षित रखा जावेगा। दुर्लभ फोटो और रेखाचित्र मुद्रित हो सकते हैं।
- ० प्रकाशन-स्वीकृति दो माह के भीतर भेज दी जाती है। अस्वीकृत लेख लौटाने संभव नहीं होंगे। अतः प्रतिलिपि सुरक्षित रख लें।
- ० लेखादि हिन्दी अथवा अंग्रेजी भाषा में निबद्ध हो सकते हैं; किन्तु आगम और प्राकृत, संस्कृत आदि ग्रन्थों से उद्धरण देवनागरी लिपि में लिखें और उद्धृत-ग्रन्थों के संस्करण और प्रकाशन-स्थान भी सूचित करें।
- ० समीक्षा और समालोचन के लिए प्रत्येक ग्रन्थ की दो-दो प्रतियां भेजें।
- ० सभी प्रकार के पत्र-व्यवहार के लिए—'सम्पादक, "तुलसी प्रज्ञा" जैन विश्व भारती, लाडनू—३४१३०६' को संबोधित करना चाहिए।

सम्पादक

डॉ० परमेश्वर सोलंकी

५६ वें पट्टोत्सव के
पुनीत अवसर पर
आचार्यश्री तुलसी

के चरणों में नमन !
शत-शत अभिवन्दन !!



सहस्रं पंचपंचाशत् किलोमितं पथं कृतम् ।
पंचपंचाशदेवाथ यस्य पट्टोत्सवोऽधुना ॥१॥

○ ○ ○

आचार्यं स्तुलसी शश्वद् भासतामिह भूतले ।
जीव्यादसौ सतां श्रेष्ठः श्रेष्ठो भूः शतवर्षकः ॥२॥

○ ○ ○

देशस्यास्य समस्तभूमिरभितो यत्पादचिह्नाङ्किता
यस्याचार्यपदस्थितस्य सुमतेरर्धाशिताब्दी गता ॥
यस्याणून्नतदेशना श्रवणतो वृत्तं श्रिता मानवा-
आचार्यप्रवरस्तनोतु तुलसी श्रेयः सदा नः प्रभुः ॥३॥

यच्छिष्योऽवनिभालमण्डननिभः शास्त्राब्धिपारंगमो
विद्वद्वन्द्यपदारविन्दयुगलः स्तुत्यो युवाचार्यकः ॥
प्रेक्षाध्यानविधिर्यतः समुदितो लोकोपकारक्षम-
आचार्यप्रवरस्तनोतु तुलसी श्रेयः सदा नः प्रभुः ॥४॥

यच्चित्तस्थितभावनावगमनाद् भक्तैर्जनैः सत्वरं
सम्भूयातुलबोधदाननिरता संस्था समुद्घाटिता ॥
मान्यश्चात्र विशिष्टशिक्षणपरोऽसौ विश्वविद्यालय-
आचार्यप्रवरस्तनोतु तुलसी श्रेयः सदा नः प्रभुः ॥५॥

द्वितीय प्रश्न

खण्ड १७

जुलाई-सितम्बर, १९६१

अंक २

अनुक्रमणिका

१. शत शत अभिवन्दन	
२. सम्पादकीय (हाथीगुंफा लेख की दो ओलियां)	
३. ज्ञानप्रामाण्यविवेचन	पृष्ठ ५६
४. आत्मा का वजन	६७
५. आदमी बूढ़ा क्यों होता है ?	६९
६. सप्तमी एकवचन की प्राचीन विभक्तियां	७३
७. स्व० डॉ० काशीप्रसाद जायसवाल	७६
८. शाश्वत यायावरी जैन श्रमणों की	७७
९. क्या सामान्यकेवली के लिए अर्हन्त पद उपयुक्त है ?	८३
१०. मधुकणिकाएं—“दृष्टान्त-शतक री जोड़”	८६
११. पुस्तक-समीक्षा	९६

English Section

1. A Creative Genius : Shrimad Jayacharya	17
2. Equivalent views about Ultimate Reality	19
3. Rainy-seasons passed by Mahāvira & Buddha	32
4. Aṅgavijjā—A Prakrit text of antiquity	33
5. Jainism & Buddhism	39
6. Prosodial Practice of six Jaina Poets	45
7. Book-Review	48

नोट—इस अंक में प्रकाशित लेखों में व्यक्त विचार लेखकों के हैं। यह आवश्यक नहीं है कि सम्पादक-मंडल अथवा संस्था को वे मान्य हों।

हाथीगुंफा-लेख की दो ओल्लियां

हाथीगुंफा की चट्टान पर लिखे लेख को सर्वप्रथम पादरी स्टार्लिङ्ग ने ईसवी सन् १८२० में देखा और जेम्स प्रिसप के लिए मेजर किट्टोने ने उसकी अशुद्ध प्रतिलिपि बनाई। फिर जनरल कनिंघम द्वारा मि० एच० एच० लोके की प्लास्टर कास्ट प्रतिकृति से सुपाठ्य अक्षरों की प्रतिलिपि तैयार हुई।

राजा राजेन्द्रलाल मित्र, डॉ० भगवानलाल इंद्रजी, जी० बहूलर, जे० एफ० फ्लोट, काशीप्रसाद जायसवाल, आर० डी० बनर्जी आदि विद्वानों ने शिलालेख के अपने-अपने ढंग से मूलपाठ तैयार किए। पं० सुखलाल संघवी, स्टेनकोनो, डॉ० बी० एम० बरुआ, डॉ० डी० सी० सरकार आदि ने मूलपाठ में संशोधन सुझाए और यह क्रम आज भी जारी है।

यह लेख ढलवां चट्टान के ८४ वर्गफुट क्षेत्र पर १७ ओल्लियों के रूप में खोदा गया है; किंतु अक्षर पौन इंच से तीन इंच आकार में छोटे-बड़े हैं। लेख के वाक्य और उसमें लिखा एक-एक बर्ष का कार्य-विवरण एक दूसरे से पृथक् रखा गया है। दो वाक्यों के बीच दो अक्षर लिखने योग्य स्थान रिक्त छोड़ा गया है और प्रत्येक बर्ष का कार्य-विवरण प्रायः नये पैरे की तरह शुरू किया गया है। विराम चिह्न, यदि कोई था तो, उसका रूप मिट गया है। वास्तव में अति प्राचीन होने, घिस-पिट जाने और पत्थर छीजने-तिड़कने के कारण शिलालेख में खोदे गए वाक्य परस्पर मिले हुए अथवा रिक्त स्थानों पर अक्षरों के तदाभास जैसी विभ्रम की स्थिति बन गई है। यही कारण है कि सन् १८२० से आज तक उसके मूलपाठ और अर्थ-संदोहन में मतभेद बना हुआ है।

यहाँ हम प्रशस्ति की अन्तिम दो पंक्तियों के मूलपाठ और उनमें अभि-
प्रेत अर्थ की ओर विद्वानों का ध्यान आकृष्ट किया चाहते हैं जो जैन परं-
परा के एक महत्त्वपूर्ण तथ्य को उजागर करता है। दोनों पंक्तियों में उत्कीर्ण
मूलपाठ इस प्रकार है—

पंक्ति-१६—पटालिके चतरे च वेडूरिय गभे थंभो पतिठापयति पानतरीय
सत (सहसेहि) मुरिय कालवोछिने च चोयठअंगे सातिकं तिरियं
उपादयति खेमराजस बढराजसभिखुराजस धमराजस पसंतो मुनंतो
अनुभंतो कलानानि ।

पंक्ति-१७—गुनविसेसकुसलो सबपासंडपूजको सबदेवायतनसंकार कारको
अपतिहतचक वाहनिवलो चकधुरगुतचको पवतचको राजसि वसुकुल-
विनिसितो महाविजयो राजा खारवेलसिरि । (चैत्य का चिह्न) ।

अर्थात् पटालिकेचतरे—पिहुण्डा बन्दरगाह के तट पर ७५ लाख मुद्राएं
खर्च करके वैदूर्य गर्भवाला (मुक्तामणिजड़ा) स्तंभ स्थापित कराता है और
मौर्यकाल में उच्छिन्न हुए जिनआगमों के ६४ अंगों की सुरक्षा के लिए
सातिक तिरियं—पिधानरूपी शाटिक (पिधानार्थक-तिरिस् धातु) बनाता है।
क्षेमराजा, वर्द्धमानराजा, भिखुराजा, धर्मराजा, जो कल्याण कार्यों को
पसंद करता, सुनता और अनुभव करता (जनहित कार्यों को करता,
उन्हें पुनः निरीक्षण करता और गुणदोष देख कर पूरे कराता) था, ऐसा
विशिष्ट गुणों से युक्त, सब धर्मों का पूजक, सब देवायतनों का संस्कर्त्ता,
विशाल सेना के कारण अप्रतिहत गतिवाला, समर्थ शासन कर्त्ता, धर्म प्रवर्त्तन
कर्त्ता (सुपवन विजयचकोकुमारी पवते—१४वीं पंक्ति) और राजसी
संपदाओं से सुसम्पन्न महाविजयी राजा श्री खारवेल है।

इन पंक्तियों में आये 'पटालिक'—को उत्तराध्ययन चूर्णि (पृ० २६१) के
अनुसार—'समुद्त्तीरे पिहुंडं नाम नगरं' कहा गया है जो डॉ० सिलेवन लेवी
के मत में मैसोलस (गोदावरी) और मानदस (महानदी) के बीच का पुलिन
(डेल्टा) है। प्लिनी ने इसे पर्थलिस (Parthalis) नाम से उल्लिखित किया
है। 'पानतरीय' अथवा 'पनसतरीयसत' तथा 'मुरियकाल' के मध्य सात अक्षर
खोदा जाने जितना स्थान रिक्त है इसलिये दोनों पदों को एक साथ नहीं माना
जा सकता और 'पनसतरीय सतसहसेहि' के बाद वाक्य-समाप्ति मानी जानी
ही उचित है। दूसरे वाक्य—'मुरियकाल वोछिने च चोयठ अंगे सातिकं तिरियं
उपादयति'—मौर्यकालादुछिन्ने च चतुष्षिटि अंगे सातिकं तिरियं (Slanting
across) उत्पादयति—में राजा खारवेल द्वारा कुमारी पर्वत पर प्रवर्तित
धर्मचक्र के अवसर पर मौर्यकाल में उच्छिन्न हुए जिन-आगमों को संरक्षित
कराना ही अभिप्रेत हो सकता है। प्रशस्ति का यह महत्त्वपूर्ण उल्लेख होने
से बिना संवत्सर-उल्लेख के अनेकों योजना, अनेकों स्तंभ और चैत्यों के
निर्माणोल्लेख के साथ अन्त में लिखा गया है।

पंक्ति १७ में 'खारवेल सिरि' के विशेषणों में 'सवपासंड पूजको' और 'सवदेवायतनसंकारकारको'—ये दो विशेषण भी उपर्युक्त कथन की ही पुष्टि करते हैं। अशोक के देहलीटोपरा स्तंभ लेख में एक वाक्यांश है—'कयानं मेव देखति'—केवल कल्याण ही देखता है। इसी प्रकार 'पासंड' शब्द भी दर्जनों स्थलों पर प्रयुक्त है। गिरनार के द्वादश अभिलेख में लिखा है—'राजा सव पासंडानि च पवजितानि च घरस्तानि च पूजयति दानेन च विवाधाय च पूजाय पूजयति'—राजा सभी धार्मिक संप्रदायों, प्रव्रजित सन्यासी और गृहस्थों को दान और विविध प्रकार की पूजा से पूजते हैं। तद्वत् खारवेल भी जैन धर्मानुयायी होते हुए भी अपने को 'सव पासंड पूजक' और 'सव देवायतन संकार कारक' लिखाता है।

६४ अंगों के स्मृतिक के रूप में यहाँ जैन आगमों की प्राचीन श्रुत-सन्निधि का उल्लेख सर्वाधिक महत्त्व की बात है। आजकल जिनागमों के ६४ अंग नहीं मिलते किन्तु जहाँ स्थानकवासी और तेरापंथी ३२ अंग मानते हैं वहाँ मूर्तिपूजक-परंपरा में ४५ आगम मान्य हैं। अंग, उपांग, मूल, छेद, चूलिका और प्रकीर्णक अथवा अंग, अनंग, कालिक, उत्कालिकों-(ग्रन्थों) की संख्या ४५ या ८४ तक गिनी जा सकती है।

पाटलिपुत्र-वाचना में दृष्टिवाद लुप्त होना माना गया है। मुनि स्थूलभद्र द्वारा भी दस ही अंग संस्कारित किए गए ऐसा उल्लेख मिलता है किन्तु कुमारगिरि पर ६४ अंगों की श्रुतसन्निधि सुरक्षित की गई थी। यह उक्त उल्लेख में स्पष्ट है। इस प्रकार हाथीगुंफा की खारवेल-प्रशस्ति की उक्त दो ओष्ठियां आगमों की संख्या-निर्धारण में प्रमाणरूप में प्रस्तुत की जा सकती हैं।

हेमवंतसूरि की स्थविरावली में कुमारीगिरि पर हुई धर्मसभा के अध्यक्ष का नाम सुहृथी लिखा है—

जिण कप्पिपरिकम्म जो कासी जस्स संथवमकासी ।
कुमारगिरिम्मि सुहृथी तं अज्ज महगिरि वंदे ॥

—परमेश्वर सोलंकी

ज्ञानप्रामाण्यविवेचन

□ विश्वनाथमिश्रः

[लेखक का अभिमत है कि 'ज्ञान प्रामाण्य' अनित्य ज्ञान के लिए होता है और वह यथार्थ और अयथार्थ—दो प्रकार का होता है। यथार्थ को प्रमा शब्द से प्रमात्व और प्रमाण शब्द से प्रामाण्य कहा जाता है। इसी प्रकार अयथार्थ को अप्रमात्व और अप्रामाण्य कहते हैं। उसके विचार में अनित्य ज्ञान से संबंधित गुण से प्रामाण्य और दोष से अप्रामाण्य होता है।

अपनी इस धारणा की मान्यता के लिए लेखक ने बहुविध विवेचन किया है। इससे पूर्व (तुलसी प्रज्ञा १६.१ में) साध्वी योगक्षेम प्रभा ने प्रामाण्य को गंगेश के सिद्धान्त के अनुसार प्रमाकरत्व (प्रमात्व)—प्रमा की प्राप्ति कर्ता साधन का गुण और स्वयं प्रमा—प्रामाण्य होने से ही प्रमा (अभाव में अप्रमा) सिद्ध किया है।

वास्तव में भारतीय दार्शनिक 'प्रामाण्य' के नियामक तत्त्वों के संबंध में एकमत नहीं हैं। जैन मत में प्रामाण्य और अप्रामाण्य की उत्पत्ति परतः होती है लेकिन ज्ञप्ति स्वतः और परतः दोनों तरह से होती है। 'प्रमाण परीक्षा' के अनुसार प्रामाण्य का निश्चय अभ्यास होने पर स्वतः और अनभ्यास दशा में परतः होता है। आशा है, यह चर्चा आगे बढ़ेगी।—संपादक]

'ज्ञान' और 'प्रमाण' भारतीय दार्शनिक वाङ्मय में अत्यन्त प्रसिद्ध शब्द हैं। ज्ञान अखण्डबोध नित्य और सर्वाभासक, होता है। उसकी स्फुरणा पदे पदे दृष्टिगोचर होती है। सद्यो जात शिशु विना किसी प्रशिक्षण के मातृस्तन्य का पान करता है। उसे यह बोध है कि "इदं दुग्धपानं, मदिष्टसाधनम्" बुभुक्षोपशामकत्वात्, पूर्वानुभूतदुग्ध-पानवत्। इस प्रकार हिताहित-प्राप्तिपरिहार का ज्ञान पशु पक्षी को भी है। हरी दूर्वा लेकर—पुचकारते हुए मनुष्य के पास गौ आदि पशु दौड़कर चले आते हैं, किन्तु दण्डो-द्यतकरमनुष्य को देखकर वे पलायन कर जाते हैं। इससे अखण्डज्ञान स्फुरणा की व्यापकता स्पष्ट होती है। जिस प्रकार अनन्तसत्ता का सदंश, अखण्ड चित् का चिदंश इस जगद् में परिव्याप्त है उसी प्रकार अखण्ड और नित्यबोध का बोधांश भी जगद् में व्याप्त है। यह बोधांश प्राणिमात्र को सहज उपलब्ध है। यह नित्य ज्ञान है। इसकी व्युत्पत्ति भावार्थक प्रत्यय से होती है—"ज्ञप्ति ज्ञानम्"। बोध ही ज्ञान है। यही जागतिक निखिल व्यवहार का प्रयोजक है। इसलिये ज्ञान की परिभाषा करते हुए

तर्कसंग्रहकार लिखते हैं—‘सर्वव्यवहारहेतुगुणो बुद्धिर्ज्ञानम् । सारे व्यवहारों का हेतु जो गुण होता है उसे ही बुद्धि या ज्ञान कहते हैं ।

उपर्युक्त विवेचन से ज्ञान के उस नित्य स्वरूप का परिचय मिलता है जो त्रैकालिक सत्य का समानाधिकरण है । उसके अतिरिक्त एक अनित्य ज्ञान होता है जिसे वृत्तिज्ञान कहा जाता है । ‘ज्ञायते येन तत् ज्ञानम्’ यह इसका व्युत्पत्ति करणसाधन है । आत्म मनः संयोग ; मन का इन्द्रिय- के साथ संयोग, और इन्द्रिय का अर्थ के साथ संयोग, होने पर विधयाकाराकारित चित्तवृत्ति में प्रतिबिम्बित जो चिदाभास है वही वृत्तिज्ञान कहा जाता है । यह ज्ञान अनित्य है किन्तु व्यवहारोपयोगी होता है । जगत् के सारे व्यवहार इसी के आधार पर चलते हैं । उपर्युक्त तर्कसंग्रह का लक्षण इसी ज्ञान का है । अनेक विप्रतिपत्तियों के होने पर भी ज्ञान की परिभाषा इस रूप में की जाती है— “अर्थप्रकाशकत्वं ज्ञानत्वम्” “साक्षात् व्यवहारजनकत्वं ज्ञानत्वम्” अथवा “जडविरोधित्वं ज्ञानत्वम्” अथवा “अज्ञानविरोधित्वं वा ज्ञानत्वम्” । इनमें कोई लक्षण नित्य ज्ञान में संगत होता है तो कोई लक्षण अनित्य ज्ञान में संगत होता है । किन्तु ‘अर्थप्रकाशकत्वं ज्ञानत्वम्’ यह ज्ञान का लक्षण दोनों प्रकार के ज्ञानों में समन्वित होता है ।

प्रस्तुत निबन्ध में जिस ज्ञान के प्रामाण्य के ऊपर विचार करना है, वह अनित्य ज्ञान है । यह दो प्रकार का होता है यथार्थ और अयथार्थ । तद्वाङ् में तत्प्रकारक ज्ञान यथार्थ ज्ञान है । रजत मे रजतत्व प्रकारक “इदं रजतम्” यह ज्ञान यथार्थ ज्ञान है, किन्तु रजतत्वाभाववती शुक्ति में “इदं रजतम्” यह ज्ञान अयथार्थ या भ्रम कहा जाता है । उत्तरकालिकअधिष्ठानज्ञान से जहां अधिष्ठेय का बाध हो जाय वह तो मिथ्या ज्ञान ही कहा जाता है ।

यथार्थ ज्ञान को प्रमा भी कहते हैं । इसके मुख्यतया चार भेद होते हैं प्रत्यक्ष, अनुमिति, उपमिति और शाब्दी प्रमा । प्रमा का कोई न कोई करण होता है क्योंकि बिना करण के कोई कार्य नहीं होता । प्रमा का जो करण होता है वही प्रमाण होता है । प्रमाण शब्द में प्रमा और अन इन दो की युति है । उनमें प्रमा का अर्थ है यथार्थ-ज्ञान और अन प्रत्यय का अर्थ है करण । इसलिये कहा जाता है कि— प्रमायाः करणम् = प्रमाणम् । प्रमा का जो करण अर्थात् साधकतम कारक है वही प्रमाण है ।

प्रमाण का स्वरूप

अब प्रश्न होता है कि प्रमाण है क्या जिससे प्रमा होती है ? इन प्रश्न के उत्तर में जैन दर्शन का कहना है कि ज्ञान ही प्रमाण है । आचार्य हेमचन्द्र ने कहा है “सम्यगर्थ निर्णयः प्रमाणम्” । वादिदेवसूरि का कहना है कि—‘स्वपरव्यवसायिज्ञानं प्रमाणम्’ । आचार्य माणिक्य नन्दी ‘प्रमेयकमलमार्तण्ड’ में लिखते हैं—

“स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रमाणम्” ।

इन लक्षणों में शाब्दिक वैभिन्न्य होने पर भी सभी का स्वारस्य इसी में है कि ज्ञान ही प्रमाण है । वह ज्ञान भी अर्थ का यथार्थ निश्चायक होना चाहिये । यथार्थ निश्चायक का अर्थ यथार्थ ज्ञान ही है । इस प्रकार प्रमाण का लक्षण करने

पर जिज्ञासा का क्रम आगे बढ़ता है कि प्रमा यथार्थ ज्ञान को कहते हैं और उसका कारण भी यथार्थ ज्ञान माना जा रहा है तो एक ही में साध्य साधन भाव का व्यवहार कैसे संभव हो सकेगा ? दूसरी बात यह है कि स्वयं प्रकाशित होते हुए घट को प्रकाशित करने वाला जो ज्ञान है वह हुआ तो कैसे हुआ ? जिस साधन से वह ज्ञान हुआ है उस साधन को प्रमाण कहे या नहीं ? ज्ञान को प्रमाण मानने पर इस प्रकार की विप्रति-पत्तियां उपस्थित होती हैं। इन विप्रतिपत्तियों को यहीं अनुत्तरित छोड़कर जब हम न्यायदर्शन की ओर मुड़ते हैं तो वहां भी यह प्रश्न उपस्थित होता है कि प्रमा के कारण को प्रमाण कहने पर प्रमाता प्रमेय आदि को भी प्रमाण क्यों न कहा जाय क्योंकि प्रमोत्पत्ति में ये भी तो कारण ही है। इसके उत्तर में कहा जाता है कि प्रमाता और प्रमेय के उपस्थित रहने पर भी प्रमा की उत्पत्ति नहीं होती है किन्तु इन्द्रियसन्निकर्ष होने पर अविलम्ब प्रमोत्पत्ति हो जाती है, अतः इन्द्रियसन्निकर्ष ही प्रमाण है। इस प्रकार प्रमाता और प्रमेय आदि को प्रमाण नहीं कहा जा सकता।

दूसरी बात यह है कि पांच ज्ञानेन्द्रियों का अस्तित्व तो सभी मानते हैं। शब्द स्पर्श रूप रस गन्ध का ज्ञान क्रमशः श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, रसना तथा घ्राण से होता है। यह बात सभी को स्वसंवेद्य है। जब ये इन्द्रियां ज्ञान का साधन हैं तब इन्द्रियसन्निकर्ष को प्रमाण मानने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिये। चक्षुरिन्द्रिय से घट ज्ञान होने पर चक्षुःसन्निकर्ष को प्रमाण न मानकर ज्ञान को प्रमाण मानना किस प्रकार संगत हो सकेगा ? कहा जाता है कि जड़ इन्द्रिय सन्निकर्ष प्रमाण कैसे हो सकता है ? किन्तु चेतन के सम्पर्क से जड़ में क्रियाकारिता जब हम प्रतिदिन दैनिक व्यवहार में देखते हैं तब यह प्रश्न सर्वथा अर्थहीन हो जाता है कि जड़इन्द्रियसन्निकर्ष में प्रमाकरणत्व कैसे संभव है ? इसी बात को लक्षित कर जयन्तभट्ट 'न्यायमंजरी' में लिखते हैं—

अव्यभिचारिणीमसंदिग्धामर्थोपलब्धिं विदधती बोधाबोधस्वभावा सामग्री प्रमाणम् ।

अस्मरहित, संशयरहित जो अर्थ का ज्ञान होता है उस ज्ञान को उत्पन्न करने वाली बोध और अबोध स्वरूप जो सामग्री है, वही प्रमाण है।

यहां अबोध रूप पञ्च ज्ञानेन्द्रियां प्रत्यक्ष प्रमा में कारण होने से प्रमाण हैं। बोधरूप अर्थात् ज्ञानरूप कारण से अनुमान, उपमान और शब्दज्ञान रूप कारण अभिप्रेत है। अनुमान का अर्थ है परामर्श। परामर्श कहते हैं विशिष्ट वैशिष्ट्यावगाहि ज्ञान को। बह्नि की व्याप्ति से विशिष्ट धूम का वैशिष्ट्य अर्थात् संयोगेन पर्वतवृत्तित्वज्ञान ही विशिष्ट-वैशिष्ट्यावगाहि ज्ञान है। यह विशिष्टवैशिष्ट्यावगाहि ज्ञान अनुमिति नामक प्रमा का कारण होने से प्रमाण है। ज्ञान क्योंकि किसी साधन से होता है, इसलिये अनुमित्यात्मक-ज्ञान का कारण जो परामर्श नाम का ज्ञान है वह कैसे हुआ है ? इस प्रश्न का उत्तर यह समझना चाहिये कि-वह प्रत्यक्ष प्रमाण जन्य है। कारण यह है कि जब हम प्रत्यक्ष रूप से धूम को पर्वत में देखते हैं तब पूर्व में गृहीत व्याप्ति का स्मरण पूर्वक यह विशिष्ट-वैशिष्ट्यावगाहि ज्ञान होता है। इसी प्रकार सादृश्यज्ञान जो उपमिति का

करण है वह भी प्रत्यक्ष मूलक ही है। शब्द ज्ञान जो शाब्दी प्रमा का करण है वह भी श्रावण प्रत्यक्ष का विषय होकर ही प्रमाकरण होता है।

इस विवेचन के स्पष्ट होता कि ज्ञान यद्यपि प्रमा का करण है तथापि वह ज्ञान पहले किसी साधन से उत्पन्न होने के बाद ही प्रमा का करण होता है। इस प्रकार ज्ञान में प्रमात्व और प्रमाकरणत्व ये दोनों बातें संगत होती हैं। विवेचन से यह बात भी स्पष्ट हुई है कि प्रमा और प्रमाण इन दोनों का प्रयोग यथार्थ ज्ञान के लिये होता है। यद्यपि प्रमा के करण को ही प्रमाण कहने की परम्परा रही है तथापि यथार्थ ज्ञान के लिये प्रमाण शब्द का प्रयोग आधारहीन नहीं है। व्युत्पत्ति-वैचित्र्य के आधार पर प्रमाण शब्द यथार्थ ज्ञान का वाचक हो सकता है। प्र पूर्वक मा धातु से भाव में अङ् प्रत्यय करने से प्रमा शब्द निष्पन्न होता है। इस प्रमा शब्द का जो अर्थ है वही अर्थ प्र पूर्वक मा धातु से भाव में ल्युट् प्रत्यय से निष्पन्न प्रमाण शब्द का भी होता है। 'प्रमितः प्रमाणम्'। यही अर्थ भाव प्रत्ययान्त प्रमा और प्रमाण शब्द का होता है। इस प्रकार प्रमा और प्रमाण शब्द एकार्थक हो जाते हैं।

प्रामाण्यविवेचन

यथार्थ ज्ञान को जब प्रमा शब्द से व्यवहृत किया जाता है तब उसके असाधारण धर्म को प्रमात्व कहा जाता है और जब उसे प्रमाण शब्द से कहा जाता है तब उसके असाधारण धर्म को प्रामाण्य कहा जाता है। इसी प्रकार अयथार्थ ज्ञान के असाधारण धर्म को अप्रमात्व तथा अप्रामाण्य शब्दों से व्यवहृत किया जाता है। यहां प्रश्न होता है कि ज्ञान का जो प्रमात्व या प्रामाण्य है वह कैसे गृहीत होता है? क्या वही सामग्री ज्ञान का प्रामाण्य भी कराती है जिससे वह ज्ञान पैदा हुआ था, या किसी दूसरी सामग्री के द्वारा उसके प्रामाण्य का निश्चय होता है? अर्थात् प्रामाण्य का कारण स्व है या पर। यहां 'स्व' शब्द से प्रामाण्य, प्रामाण्य का आश्रय ज्ञान और ज्ञान की कारण सामग्री, इन तीनों का ग्रहण होता है। 'पर' शब्द से इन तीनों से भिन्न वस्तु का ग्रहण होता है। इसी प्रकार अप्रामाण्य के सम्बन्ध में भी ऐसा ही विचार होता है कि अप्रामाण्य का ग्रहण स्वयं होता है अथवा अप्रामाण्य के आश्रयभूत ज्ञान से होता है अथवा अप्रामाण्य की कारण सामग्री से वह गृहीत होता है?

जिनके मत में प्रामाण्य या अप्रामाण्य की उत्पत्ति 'पर' से होती है वे परतः प्रामाण्यवादी हैं। जिनके मत में प्रामाण्य स्वयं या अपने आश्रय ज्ञान से अथवा ज्ञान की कारण सामग्री से गृहीत होता है वे स्वतः प्रामाण्यवादी हैं। कौन स्वतः प्रामाण्यवादी हैं और कौन परतः प्रामाण्यवादी हैं? इस सम्बन्ध में यह कारिका प्रसिद्ध है—

प्रमाणत्वाप्रमाणत्वे स्वतः सांख्याः समाश्रिताः ।

नैयायिकास्ते परतः सौगताश्चरमं स्वतः ॥

प्रथमं परतः प्राहुः प्रामाण्यं वेदवादिनः ।

प्रमाणत्वं स्वतः प्राहुः परतश्चाप्रमाणताम् ॥—(सर्वदर्शनसंग्रह)

सांख्य दर्शन के अनुसार ज्ञान का प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनों स्वतः होते हैं।

इस बात की पुष्टि के लिये इस मत का कहना है कि प्रामाण्य और अप्रामाण्य इनका ग्रहण ज्ञान की ग्राहक सामग्री से न मानकर यदि परतः माना जाय तो उनके ग्रहण के लिये एक अतिरिक्त कारण की कल्पना करनी होगी जो एक प्रकार का गौरव ही होगा। यहां प्रश्न होता है कि प्रामाण्य की भांति यदि अप्रामाण्य स्वतः गृहीत हो रहा है तब अप्रामाण्यभूत ज्ञान के होते ही उसका अप्रामाण्य भी गृहीत हो गया तब वहां पुनः प्रवृत्ति नहीं होनी चाहिये, किन्तु देखा जाता है कि लोग अप्रामाण्य ज्ञान के विषय में भी प्रवृत्त होते हैं। इस विसंगति का क्या समाधान है? इस प्रश्न के उत्तर में कहा जाता है कि ज्ञानोत्पादक सामग्री से अप्रामाण्य ज्ञान के उदय होने के पश्चात् ज्ञानग्राहक सामग्री के समबन्धान होने तक के कालखण्ड के बीच इस ज्ञान से भी प्रवृत्ति संभव ही है।

नैयायिकों के अनुसार प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनों का ग्रहण परतः होता है। इनका कहना है कि—

प्रमात्वं न स्वतो ग्राह्यं संशयानुपपत्तितः ।—(न्यायसिद्धान्तमुक्तावली-१२६)

तात्पर्य यह है कि यदि ज्ञान का प्रमाणत्व स्वतः गृहीत हो जाय तो किसी भी व्यक्ति को यह संदेह नहीं होना चाहिये कि मेरा जो ज्ञान है वह ठीक है या नहीं? किन्तु लोगों को अपने ज्ञान के प्रति सन्देह होता है इसलिये—

दोषोऽप्रमाया जनकः प्रमायास्तु गुणो मतः ।—(न्यायसिद्धान्त मुक्ता०-१३१)

दोष अप्रामाण्य का जनक है और गुण प्रामाण्य का जनक। इस प्रकार दोनों परतः ग्राह्य है। तात्पर्य यह है कि प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनों का आश्रयभूत जो ज्ञान है उसे व्यवसाय कहते हैं। घट का ज्ञान होने पर "अयं घटः" जो ज्ञान होता है उसे व्यवसाय कहा जाता है। उसके बाद "घटविषयकज्ञानवानहम्" इस अनुव्यवसाय से "अयं घटः" इस ज्ञान का ग्रहण होता है। किन्तु उस ज्ञान के प्रामाण्य का ग्रहण या अप्रामाण्य का ग्रहण अनुव्यवसाय से न होकर प्रामाण्य का ग्रहण सफलप्रवृत्तिजनकत्व हेतु मूलक अनुमान से तथा अप्रामाण्य का ग्रहण विफलप्रवृत्तिजनकत्वहेतुमूलक अनुमान से होता है। जलबुद्धि से तालाब के पास गये व्यक्ति को जब जल की उपलब्धि हो जाती है तब वह व्यक्ति कहता है कि—इदं मे जलज्ञानं प्रमाणम्-सफलप्रवृत्तिजनकत्वात्। इसी प्रकार तालाब के पास जाने पर जब उसे जल नहीं मिलता तब वह कहता है कि "इदं मे जल ज्ञानमप्रमाणम् विफलप्रवृत्तिजनकत्वात्। इस प्रकार स्पष्ट होता है कि न्यायदर्शन के अनुसार ज्ञान का ग्रहण अनुव्यवसाय से तथा प्रामाण्य और अप्रामाण्य का ग्रहण अनुमान से होता है। इस प्रकार न्यायमतानुसार ज्ञान का प्रामाण्य और अप्रामाण्य स्वतो ग्राह्य न होकर परतः ग्राह्य होते हैं। जिस साधन से इनके आश्रयभूत ज्ञान का ज्ञान होता है, उस अनुव्यवसाय से गृहीत न होकर उपर्युक्त कथनानुसार अनुमान से गृहीत होता है।

बौद्ध सम्प्रदाय के अनुसार ज्ञान का अप्रामाण्य स्वतः ग्राह्य है। प्रामाण्य इनके अनुसार परतः ग्राह्य है। कोई भी ज्ञान तब तक प्रामाणिक नहीं कहा जा सकता जब तक उसका विषय मनुष्य को उपलब्ध न हो जाय। अर्थ की प्रापकता ही उसका प्रामाण्य है। इसके पहले तो ज्ञान में अप्रामाण्य ही रहता है। इस प्रकार ज्ञान अपनी उत्पत्ति के साथ

खण्ड १७, अंक २ (जुलाई-सितम्बर, ६१)

६३

अप्रामाण्य को लेकर ही उत्पन्न होता है। जिन साधनों से ज्ञान उत्पन्न होता है उसका अप्रामाण्य भी उन्हीं साधनों से उत्पन्न होता है। इस प्रकार अप्रामाण्य स्वतः और प्रामाण्य परतः ग्राह्य होता है।

जैन दर्शन के अनुसार प्रामाण्य और अप्रामाण्य ये दोनों उत्पत्ति में परतः और ज्ञप्ति में स्वतः और परतः ग्राह्य हैं। आचार्य हेमचन्द्र इस सम्बन्ध में कहते हैं कि—

प्रामाण्यनिश्चयः स्वतः परतो वा (प्रमाणमीमांसा सूत्र-८)

ज्ञान का प्रामाण्यनिश्चय कभी स्वतः और कभी परतः होता है। अभ्यासदशापन्नज्ञान की सत्यता प्रमाणित करने के लिये किसी अन्य प्रमाण की अपेक्षा नहीं होती है। जल ज्ञान के बाद यदि वहाँ अवगाहन पानादि क्रियायें सम्पन्न हो रही हैं तो उसे प्रमाणित करने की क्या आवश्यकता है? वह ज्ञान तो स्वतः ही प्रमाण है। किन्तु कहीं कहीं प्रामाण्य का निश्चय परतः अर्थात् दूसरे ज्ञान से होता है। जब किसी अनभ्यस्त वस्तु का प्रत्यक्ष होता है तब उस ज्ञान का पदार्थ के साथ अव्यभिचार निश्चित नहीं होता है। ऐसी स्थिति में किसी अन्य ज्ञान से ही उसके प्रामाण्य का निश्चय किया जाता है। इस प्रकार यहाँ ज्ञान का प्रामाण्य परतः ग्राह्य होता है।

वादिदेव सूरि का इस सम्बन्ध में कहना है कि ज्ञान का साधन इन्द्रियादि यदि निर्मलता आदि गुणों से युक्त होते हैं तब उनसे जो ज्ञान होता है वह प्रमाणभूत ज्ञान होता है। यदि इन्द्रियादि साधन काचकामलादि दोष विशिष्ट होते हैं तब उनसे अप्रमाणभूत ज्ञान उत्पन्न होता है। इस प्रकार ज्ञानोत्पत्ति में इन्द्रियों का कारणत्व है और उसके प्रामाण्य और अप्रामाण्य में इन्द्रियों का गुण और दोष कारण होता है। अभ्यासदशापन्न ज्ञान का प्रामाण्य स्वतः होता है और अनभ्यासदशापन्न ज्ञान का प्रामाण्य ज्ञानान्तर से होता है। इस सम्बन्ध में उनकी उक्ति इस प्रकार है—

तदुभयमुत्पत्तौ परत एव शक्तौ तु स्वतः परतश्च —‘प्रमाणनयतस्वालोके’

मीमांसादर्शन उपर्युक्त सारी मान्यताओं का निराकरण करता है। इसका कहना है कि ज्ञान का प्रामाण्य स्वतः है परतः नहीं। यदि प्रामाण्यात्मिका शक्ति स्वतः नहीं है तो अन्य किसी कारण से वह वहाँ कहीं से आजायेगी।

स्वतः सर्वप्रमाणानां प्रामाण्यमिति गम्यताम् ।

नहि स्वतोऽसती शक्तिः कर्तुमन्येन पायंते ॥ (श्लोकवार्तिक)

इस प्रकार मीमांसादर्शन के अनुसार ज्ञान का प्रामाण्य स्वतोऽग्राह्य है और अप्रामाण्य परतः ग्राह्य। स्वतोऽग्राह्य का तात्पर्य यह है कि जिस कारण से प्रामाण्य के आश्रय ज्ञान का ज्ञान होता है उसी कारण से ज्ञान के प्रामाण्य का भी ज्ञान हो जाता है। प्रामाण्यज्ञान के लिये किसी दूसरे कारण की अपेक्षा नहीं होती है। इस प्रकार इस मत के अनुसार—“ज्ञानग्राहकसामग्रीग्राह्यत्वम्” यही ज्ञान के प्रामाण्य का स्वतोऽग्राह्यत्व है। स्वतोऽग्राह्यत्व का यह लक्षण मीमांसा के प्रसिद्ध तीनों आचार्यों—प्रभाकर, कुमारिलभट्ट और मुरारिमिश्र को मान्य है।

प्रभाकर के मतानुसार ज्ञान सप्रकाश होता है वह अपनी उत्पत्ति के समय ही ज्ञायमान उत्पन्न होता है। इसका तात्पर्य यह है कि ज्ञान की उत्पादक सामग्री ही ज्ञान का ग्राहक

भी है। यदि उत्पादक सामग्री और ग्राहक सामग्री भिन्न-भिन्न हो जाय तो एक कालाव-च्छेदेन उनका सन्निधान संभव न होने की स्थिति में ज्ञान उत्पन्न होकर भी अज्ञात ही रहेगा। ऐसी स्थिति में ज्ञान की स्वप्रकाशकता समाप्त ही हो जायेगी। इसलिए ज्ञानो-त्पादक सामग्री ही ज्ञान ग्राहक सामग्री है ऐसा मानना अनिवार्य हो जाता है। घट ज्ञान के बाद “अयंघटः” ऐसा ज्ञान न होकर इस मत में “घटमहं जानामि” इस प्रकार का भान होता है। इस भान में घट, घटज्ञान और ज्ञाता इन तीनों की अनुभूति होती है। इस प्रकार ज्ञान की उत्पादक सामग्री ही ज्ञान की ग्राहक सामग्री भी है और वही सामग्री ज्ञान के प्रामाण्य का भी ग्रहण करती है। इसलिये “घटमहं जानामि” की भांति “घटमहं प्रामिणोमि” इस वाक्य का प्रयोग भी यहां देखा जाता है। इस वाक्य में घट, घटज्ञान, ज्ञानगतप्रामाण्य तथा ज्ञाता इन सभी का भान होता है।

कुमारिलभट्ट के अनुसार घटज्ञान होने के बाद घट के ऊपर ज्ञातता नाम का एक नया धर्म उत्पन्न होता है। इसलिये कहा जाता है कि “ज्ञातोमयाघटः” मैंने घट को जाना यह घटनिष्ठज्ञातता प्रत्यक्षगम्य होती है। इस ज्ञातता का कारण जो ज्ञान है वह ज्ञातता से अनुमित होता है। ज्ञाततालिंगक अनुमान जिसके द्वारा ज्ञातता के कारणभूत ज्ञान का ज्ञान होता है उसी अनुमान से ज्ञान के प्रामाण्य का भी ज्ञान होता है। इस प्रकार ज्ञान ग्राहक सामग्रीग्राह्यत्वरूप प्रामाण्य (स्वतः प्रामाण्य) इस मत के अनुसार भी उपपन्न हो जाता है।

मुरारिभिक्षु के अनुसार ज्ञान और उसका प्रामाण्य ये दोनों चीजें अनुव्यवसाय से ही गृहीत होती हैं। अतः ज्ञानग्राहकसामग्रीग्राह्यत्व रूप स्वतः प्रामाण्य इस मत में भी सुरक्षित रहता है।

इस प्रकार ज्ञान के प्रामाण्य को स्वतोग्राह्य मानने वाले मीमांसकों के यहां ज्ञान का अप्रामाण्य परतः ग्राह्य होता है। ज्ञानाधीन प्रवृत्ति जब विफल हो जाती है तब वहां कहा जाता है कि यह ज्ञान अप्रामाणिक है। इस प्रकार प्रवृत्ति की विफलता अप्रामाण्य की जनिका है और वह ज्ञानग्राहकसामग्री से भिन्न है इसलिये अप्रामाण्य परतः ग्राह्य है।

इस विवेचन से स्पष्ट होता है कि मीमांसा दर्शन के अनुसार ज्ञान का प्रामाण्य स्वतोग्राह्य है और अप्रामाण्य परतो ग्राह्य है। ऊपर कहा जा चुका है कि “स्वतः” इस पद में आये हुए स्व शब्द से प्रामाण्य, उसका आश्रयज्ञान, और उस ज्ञान की सामग्री ये तीन चीजें विवक्षित हैं। ज्ञान का प्रामाण्य स्वयमेव उत्पन्न होता है यह प्रथम पक्ष का सारांश है। किन्तु यह पक्ष इसलिये मान्य नहीं है कि कार्य बिना कारण के उत्पन्न नहीं होता है। यदि कार्य स्वयमेव उत्पन्न होने लग जाये तो कार्यकारणसिद्धान्त जो सर्ववादि-जनाभिप्रेत है उसका विखण्डन हो जायेगा।

प्रामाण्य स्वाश्रयज्ञान से उत्पन्न होता है यह दूसरा पक्ष भी ठीक नहीं है क्योंकि ज्ञान आत्मा का एक गुण है। गुण किसी के प्रति समवायी कारण नहीं होता है। ज्ञान में यदि प्रामाण्य उत्पन्न होगा तो ज्ञान उसका समवायी कारण होगा, जो कि सर्वथा असंभव बात है। कारण कि समवायी कारण द्रव्य ही होता है। गुण समवायी कारण नहीं होता है। इसलिये दूसरा पक्ष भी ठीक नहीं है। इस बात को दृष्टिगत कर मीमांसाकों ने स्वतः

प्रामाण्य की परिभाषा की कि ज्ञानग्राहक सामग्रीग्राह्यत्वं स्वतः प्रामाण्यम् । यह तृतीय पक्ष है जो सभी मीमांसकों को मान्य है ।

नैयायिक इस पक्ष में यह आपत्ति करते हैं निखिल प्रमाणगत प्रामाण्य यदि सामान्य की भांति जाति रूप हैं तब तो वह नित्य होजाता है और नित्य वस्तु की उत्पत्ति नहीं होती है । ऐसी स्थिति में ज्ञानग्राहकसामग्री से प्रामाण्य उत्पन्न होता है यह कहना ठीक नहीं है ।

यदि प्रामाण्य को जाति न मानकर उपाधि माना जाय तो भी उसकी उत्पत्ति संभव नहीं है क्योंकि प्रामाण्य यथार्थानुभवत्व रूप है । स्मृति भिन्न ज्ञान हि यथार्थानुभव कहा जाता है । अनुभव की यथार्थता बाधात्यन्ताभाव रूप ही है । जो ज्ञान उत्तरकाल में बाधित हो जाय वह यथार्थ ज्ञान नहीं कहा जा सकता । इस प्रकार प्रामाण्य बाधात्यन्ताभाव रूप सिद्ध होता है और अत्यन्ताभाव नित्य माना गया है । ऐसी स्थिति प्रामाण्य की उत्पत्ति कथमपि संभव नहीं हैं ।

मीमांसक इसका उत्तर देते हुए कहते हैं कि यह कथन सर्वथा अर्थहीन है कि स्वतः प्रामाण्य का स्वरूप नहीं बनता है, इसलिये ज्ञान का प्रामाण्य परतः मानना चाहिये । यह बात इसलिये निराधार है कि ज्ञान का प्रामाण्य स्वतः उपपन्न हो रहा है । प्रामाण्य का स्वतोग्राह्यत्व यही है कि वह ज्ञान की सामग्री मात्र से ही जन्य है उससे भिन्न किसी हेतु से जन्य नहीं है । “ज्ञानसामग्रीजन्यत्वे सति तदितराजन्यत्वमेव स्वतो ग्राह्यत्वम्” जिस सामग्री से ज्ञान उत्पन्न होता है उसी से उसका प्रामाण्य भी उत्पन्न होता है । गुण या दोषाभाव उसके प्रयोजक नहीं है । दोष तो केवल प्रमा का प्रतिबन्धक है ।

यह प्रामाण्य और अप्रामाण्य का विचार अनित्य अर्थात् जन्य ज्ञान के सम्बन्ध में होता है । नित्य ज्ञान जो सबका मूल है उनके सम्बन्ध में यह विचार नहीं होता । विषयेन्द्रिय सम्प्रयोग जन्य अनित्य ज्ञान अन्तःकरण वृत्ति रूप है । यह भी ज्ञान तभी बनता है जब इसमें नित्यबोध का प्रतिबिम्ब पड़ता है । यह नित्य बोध का द्वार है । इसके द्वारा ही नित्य अखण्डबोध या भग्नावरणा चित् की उपलब्धि होती है जिससे जड़चेतनग्रन्थि-विभेदनपुरःसर सर्वसंशयनिराकरणसमानाधिकरण निखिलकर्म्मों का सार्वदिक क्षय होता है जिसे मुक्ति या स्वरूपोपलब्धि शब्द से अभिहित किया जाता है । □ □

स्वतः प्रमाणं परतः प्रमाणं कीरांगना यत्र गिरो गिरन्ति ।
शिष्योपशिष्यैरुपगीयमानमवेहि तन्मण्डनमिश्रधाम ॥

आत्मा का वजन

□ समणी मंगलप्रज्ञा

भारतीय दर्शन ने आत्मा के सम्बन्ध में विविध प्रकार से विचार किया है। उसका आकार-प्रकार कैसा है ? वह व्यापक है अथवा सीमित ? उसका स्वरूप कैसा है ? उसका कार्य क्या है ? उसका अस्तित्व त्रैकालिक है अथवा वार्तमानिक ? आदि अनेक प्रश्नों पर प्रायः सभी भारतीय दार्शनिकों ने ऊहापोह किया है और निष्कर्षतः अपना-अपना स्वतन्त्र अभिमत भी प्रस्तुत किया है।

आत्मा भारहीन है अथवा भारयुक्त ? इस प्रश्न पर जैन दर्शन के अतिरिक्त किसी भी भारतीय या पाश्चात्य दार्शनिक का ध्यान आकृष्ट हुआ ही, ऐसा दृष्टिगोचर नहीं होता। जैन-दार्शनिकों ने आत्मा के वजन के बारे में चिन्तन किया है। 'रायपसेणिय सूत्र' में केशी श्रमण एवं राजा प्रदेशी के संवाद से यह तथ्य प्रकट होता है। राजा प्रदेशी परम नास्तिक था, आत्मा जैसी किसी भी वस्तु में उसका विश्वास नहीं था। आत्मा है या नहीं—इसके लिए उसने अनेक व्यक्तियों पर विभिन्न प्रकार के प्रयोग किये। वह श्रमण केशी से कहता है—मुनिप्रवर ! आत्मा जैसे किसी भी पदार्थ का अस्तित्व नहीं है, क्योंकि मैंने चोर को मरने से पहले तौला तथा मरने के तुरन्त बाद उसका वजन किया, किन्तु उसके वजन में कोई अन्तर नहीं आया, अतः आत्मा का अस्तित्व स्वीकार नहीं किया जा सकता।

वैज्ञानिकों ने आत्मा के वजन के संदर्भ में प्रयोग किये हैं। आत्मा को तौलने के लिए उन्होंने अत्यन्त संवेदनशील तराजू का निर्माण किया है। राजा प्रदेशी के पास उस समय इतने संवेदनशील मापक यन्त्र नहीं थे, जितने आज उपलब्ध हैं। इसके कारण ही प्रदेशी को मरने के बाद और मरने के पहले शरीर में अन्तर मालूम नहीं हुआ। आज के वैज्ञानिक मानते हैं कि मरने के समय शरीर से एक तत्त्व निकलता है जो भारयुक्त है। स्वीडिश डा. नेल्स जैकवसन के अनुसार आत्मा का वजन २१ ग्राम है। उन्होंने आत्मा का वजन ज्ञात करने के लिए मृत्यु-शय्या पर पड़े व्यक्तियों को एक अत्यधिक संवेदनशील तराजू पर रखा और जैसे ही उनकी मृत्यु हुई अर्थात् आत्मा शरीर से पृथक् हुई, तराजू की सुई २१ ग्राम नीचे चली गई।

अमेरिकन डा० विलियम मैकडूगल ने भी आत्मा के विषय में विभिन्न खोजें की हैं। उन्होंने एक ऐसी तराजू का निर्माण किया जो अशक्त मरीज के पलंग पर लेटे रहने के बावजूद ग्राम के हजारवें भाग तक का वजन बता सकती है। उसने इस भारतोलक

खण्ड १७, अंक २ (जुलाई-सितम्बर, ६१)

६७

मशीन को मरणासन्न रोगी के पलंग से जोड़ दिया। वह मशीन उस व्यक्ति के कपड़े, पलंग, फेफड़ों की सांसों तथा उसे दी जानेवाली दवाइयों का वजन लेती रही। जब तक रोगी जीवित रहा, मशीन की सुई एक स्थान पर स्थिर रही लेकिन जैसे ही रोगी के प्राण निकले सुई पीछे हट गई और रोगी का वजन आधा छटांक कम हो गया। मैकडूगल ने ऐसे प्रयोग कई व्यक्तियों पर किये और उसने निष्कर्ष निकाला कि जीवन का आधारभूत तत्त्व है और वह अति सूक्ष्म है। उसका भी वजन है तथा वही सूक्ष्म तत्त्व आत्मा है। इस प्रकार आज के वैज्ञानिकों ने आत्मा नामक तत्त्व को स्वीकृति दी है और उसको भारयुक्त भी माना है।

जैन दार्शनिक आत्मा को अमूर्त मानते हैं और जो अमूर्त तत्त्व होता है वह भारहीन होता है अतः जैन दर्शन के अनुसार आत्मा भारहीन है। आज के वैज्ञानिक जो भार बता रहे हैं वह सूक्ष्म शरीर का है। जैन दर्शन के अनुसार संसारी आत्माएं सूक्ष्म शरीर से युक्त होती हैं। प्रत्येक संसारी आत्मा के साथ दो सूक्ष्म शरीर, तैजस और कामंण, होते हैं। कामंण शरीर चतुःस्पर्शी परमाणुओं से निर्मित होने के कारण भारयुक्त है। वैज्ञानिक जो भार बता रहे हैं संभवतः वह तैजस शरीर का है जो अनवरत संसारी आत्मा से युक्त रहता है। अतः सूक्ष्म शरीर के साथ आत्मा का कथंचिद् अभेद भी है। इस आधार पर यह वजन आत्मा का कहा जा सकता है। इसमें किसी भी प्रकार की आपत्ति नहीं होनी चाहिए। जैन दर्शन ने सांसारिक आत्मा को कथंचिद् मूर्त भी माना है। मूर्त पदार्थ भारयुक्त हो सकते हैं। अतएव आत्मा का वजन होता है, यह कथन असमीचीन नहीं है। □

अरस-मरुध-मगंधं अवत्तं, चेदणागुण-मसद् ।

जाण अलिगहणं जीवमणिछिट्ठसंठाणं ॥

णाहं देहो ण मणो ण चैव वाणो ण कारणं हेसिं ।

कत्ता ण, ण कारयिदा, अणुमत्ता णेव कत्ती णं ॥

अर्थात् यह जीव रस, रूप, गंध और शब्द रहित अव्यक्त चैतन्य रूप है जो बिना आकार का और इन्द्रियादि से अग्राह्य है। दूसरे शब्दों में न मैं (आत्मा) शरीर हूँ, न मन हूँ, न वचन हूँ और न मन, वचन, काय का कारण हूँ। मैं इनका भर्त्ता, कर्त्ता और अनुमोदन कर्त्ता भी नहीं हूँ।

आदमी बूढ़ा क्यों होता है ?

□ साध्वी राजीमती

वह संसार का सबसे बड़ा धनी व्यक्ति होता है जो स्वस्थ तन और स्वस्थ मन का अधिकारी होता है। सब कुछ पाकर भी मनुष्य सुखानुभूति नहीं कर सकता, यदि उसके पास स्वस्थ मन, सधा हुआ चित्त और शान्त वृत्तियां नहीं हैं। भारतीय संतों ने इस वास्तविकता की ओर समाज का ध्यान आकर्षित किया है कि जो अपनी भोगवृत्ति पर योग का नियन्त्रण बनाए रखता है, वह सुखपूर्वक योग का जीवन जी सकता है। योग छूटते नहीं किन्तु योगमार्ग निष्कण्टक हो जाता है। फलतः उसका समय बढ़ जाता है।

शरीर पर बुढ़ापा कब उतरता है—यह उतनी महत्वपूर्ण बात नहीं, जितनी महत्ता इस बात की है कि मानसिक स्तर पर आदमी बूढ़ा कब होता है? शारीरिक बुढ़ापे से बचने के लिए आवश्यक है सन्तुलित भोजन, गहरी नींद, गहरी सांस, दैनिक भ्रमण, व्यायाम तथा नियंत्रित वासनाएं। मानसिक बुढ़ापे का मतलब है, कार्य-क्षमताओं का अभाव, चिन्तन-शक्ति का ह्रास और जीवन रस की क्षीणता। दूसरे शब्दों में बुढ़ापे का अर्थ है—निष्क्रियता और जवानी का अर्थ है—सतत गतिशीलता। शारीरिक बुढ़ापा जो शक्ति-क्षय से उत्पन्न होता है उसके समय को कुछ लम्बाया जा सकता है, रोका जा सकता है। तात्पर्य है, आज आने वाला बुढ़ापा दस वर्ष के बाद आए—ऐसी सम्भावनाएं प्रबल की जा सकती हैं। यह हमारे खान-पान, रहन-सहन और विचार-व्यवहार पर निर्भर करने वाली बात है।

शुद्ध रहे फेफड़ा, साफ रहे पेट,
सौ वर्ष लगे नहीं, काल की चपेट।

मानव शरीर बाहर से जितना भिन्न दिखाई देता है, उतना भीतर में नहीं है। अन्दर की मशीनरी करीब-करीब सबकी समान है। शरीर के सन्तुलित विकास, रोग तथा बुढ़ापे से संघर्ष करने के लिए पर्याप्त जीवन रस का होना आवश्यक है। ग्रन्थियों का प्रथम कार्य है—हारमोन्स उत्पन्न करना। दूसरा कार्य है उनसे उत्पन्न रसों को रक्त में मिश्रित करना और तीसरा कार्य है सम्पूर्ण शरीर-रचना पर नियंत्रण बनाए रखना। इस प्रकार जवानी और बुढ़ापा दोनों जीवन-रस पर आधारित हैं। जो अपनी ग्रन्थियों को ज्यादा थकाते हैं, वे जल्दी बूढ़े होते हैं। यदि किसी प्रयोग से उन ग्रन्थियों का परिवर्तन कर दिया जाये अथवा उन्हें सबल बना दिया जाये तो मनुष्य फिर से युवा बन सकता है।

खण्ड १७, अंक २ (जुलाई-सितम्बर, ६१)

६६

कहते हैं कि पेरिस के एक डॉक्टर ने बन्दरों की यौन-ग्रन्थियों को वृद्ध मनुष्यों में प्रत्यारोपण कर उन्हें फिर से युवा बनाया। गिब्सन ने लिखा है—जब रोम के पतन का समय आया, तब सैनिकों के आत्म-निर्णय के सामर्थ्य में क्षीणता आयी, फलतः उनके टोप, कवच ढीले हो गये। बताया गया कि उनके नैतिक पतन का एकमात्र कारण जीवन रस की न्यूनता थी। डॉक्टर वर ने अपनी एक पुस्तक में ग्रन्थियों की सक्रियता और निष्क्रियता का वर्णन करते हुए लिखा है—वाटरलू की लड़ाई में नेपोलियन लड़ रहा था, उसकी पिट्यूटरी ग्रन्थि में विकार उत्पन्न हो गया, अतः वह सफल नहीं हो सका। यह सारा वृत्तान्त पोस्टमार्टम के बाद ज्ञात हुआ।

इन उपर्युक्त घटना-प्रसंगों से हम भली-भांति समझ सकते हैं कि हमारे शरीर, मन और प्रतिभा-विकास में ग्रन्थियों का महत्त्वपूर्ण कर्तृत्व है इसलिए जब ये ग्रन्थियाँ दुर्बल होती हुई प्रतीत हों, तब कुछ ऐसे योगासनों का विशेष अभ्यास किया जाना चाहिए, जिनसे वे ग्रन्थियाँ फिर से नया यौवन प्राप्त कर सकें।

उत्तेजक औषधियों तथा नशीले पदार्थों का सेवन

जो एन्टीबायोटिक औषधियों तथा नशीले पदार्थों का सेवन करते हैं, वे असमय में बूढ़े प्रतीत होने लगते हैं। डॉक्टरों का कहना है—यदि मनुष्य ४०-५० की आयु में बूढ़े जैसा दिखाई देने लगे तो उसका विधिवत् इलाज होना चाहिए क्योंकि वह बुढ़ापा नहीं, अपितु बीमारी है। लंदन के 'मेडिकल साप्ताहिक फेमिली' के डॉक्टर का कहना है—प्रत्येक प्रौढ़ व्यक्ति हर बीसवें वर्ष एक इंच सिकुड़ जाता है, किन्तु जो उत्तेजक औषधियों व नशीली वस्तुओं का सेवन करते हैं उनके स्नायु तेजी से सिकुड़ने लगते हैं। रक्त गाढ़ा हो जाता है और चेहरे पर कालिमा छा जाती है। दवा मात्र गिरते स्वास्थ्य को सहारा देती है। आखिर खड़े रहने के लिए अपना ही सामर्थ्य चाहिए।

असंतुलित भोजन समय से पूर्व मानव को वृद्ध बनाता है। वर्तमान स्वास्थ्य-वेत्ता लोगों का कहना है, खाद्य पदार्थों का सही चुनाव हमारी जिन्दगी को काफी लम्बी कर सकता है। पेट पर अत्याचार करने वाले लगभग सभी लोग अपने हाथों अपनी मृत्यु को बुलाते हैं। हमारे द्वारा अज्ञानवश जितनी गलतियाँ होती हैं, उनमें सबसे ज्यादा भोजन सम्बन्धी गलतियाँ हैं। यही कारण है कि मौत से मरने वालों से अधिक संख्या बेमौत मरने वालों की है।

मसलमश हूर कहा करते थे—४०, ५० की उम्र तक तुम्हें अपने पेट का पूरा ख्याल रखना चाहिए। फिर पेट तुम्हारा स्वतः ख्याल रखेगा। गांधीजी कहा करते थे कि भोजन के बारे में संयम करने वाला निश्चित ही दीर्घ जीवन का अधिकारी बन सकता है। मैं १२५ वर्ष अवश्य जीऊंगा। मेरा अपना अनुभव है कि स्वाद के लिए भोजन करने वाला जीवन में प्रकट होने वाली महत्त्वपूर्ण उपलब्धियों से वंचित रह जाता है। उसके ज्ञान-तन्तु अतिरिक्त भार से दबे रहते हैं। फलतः वह न बौद्धिक क्षेत्र में प्रगति कर सकता है और न ही आध्यात्मिक क्षेत्र में।

एक बार ईरान के बादशाह ने हकीम से पूछा—भोजन की मात्रा क्या होनी चाहिए ? हकीम ने बतलाया, ३६ तोला । हम जितना कम खायेंगे, उतना पाचन ठीक होकर पर्याप्त भाग का उचित परिणमन हो सकेगा । अधिक खानेवालों के मुश्किल से एक भाग का परिपाक होता है, शेष निस्सार रूप में (मल, मूत्र, स्वेद) बह जाता है । एक लेखक ने बहुत सुन्दर लिखा है कि यदि मन बूढ़ा है तो हम जवान हैं और यदि मन जवान है तो हम बूढ़े हैं ।

स्वस्थ जीवन के लिए प्रसन्न-मन और संतुलित भोजन ये दो बातें अनिवार्य हैं । आयुर्वेद कहता है 'ये गुणाः लंघने प्रोक्ताः ते गुणाः अल्पभोजने' । उपवास से जो लाभ होता है वही लाभ अल्पाहार से भी प्राप्त होता है । विश्व में आज भी कई ऐसे देश हैं जहां भोजन से अधिक भूख है । वर्तमान शरीर-शास्त्रियों का कहना है कि उस देश के मनुष्य बहुत जल्दी बूढ़े प्रतीत होने लगते हैं जहां के मनुष्यों को पर्याप्त पौष्टिक खुराक नहीं मिलती । आयुर्वेद के अनुसार भी अति भोजन और अल्प भोजन जैसे आंतों के लिए अहितकर हैं वैसे अपौष्टिक खुराक (असंतुलित भोजन) भी रोग का कारण बनती है । जैसा-तैसा भोजन सबसे पहले हमारी उन ग्रंथियों को प्रभावित करता है, जो मानव के सम्पूर्ण व्यक्तित्व विकास में सहयोग करती हैं । फलतः तामसिक लोगों में कुशाग्र प्रतिभा, दृढ़ निर्णय शक्ति, स्वबोध क्षमता तथा उच्च नैतिक बल कम पाया जाता है । स्वयं भगवान् महावीर अपने शिष्यों को भोजन के बारे में सलाह देते हुए कहते हैं—तुम कभी सरस भोजन करो, कभी नीरस भोजन । सदा सरस भोजन करने से कामोत्तेजा बढ़ती है और सदा नीरस भोजन करने से क्रोधादि वृत्तियां पनपती, उत्तेजित होती हैं । अतः दैनिक भोजन सामग्री में तली-भुनी चीजें, अति गरिष्ठ पदार्थ व अधिक बेराइटी न रहे । किसी ने ठीक ही लिखा है—स्वाद खोजने वाला स्वास्थ्य खोता है और स्वास्थ्य खोजने वाला जहां-तहां स्वाद पा लेता है ।

कुछ लोग अपनी धारणाओं तथा विचार-व्यवहार से बूढ़े होते हैं । समय बीतते-बीतते कहने लगते हैं ; भाई हम लोग कब तक काम करते रहेंगे ? हमने तो बहुत कुछ किया है, अब जरा विश्राम कर लें । इसप्रकार सोचने वाला यह प्रकट करता है कि हम बूढ़े हो रहे हैं या हो गये हैं । किन्तु कुछ सदा युवा रहते हैं । नेहरू जी ने अपनी एक वर्षगांठ पर कहा कि यदि मेरे पास मेरी आयु का कोई ठोस प्रमाण नहीं होता तो मैं शायद यह स्वीकार ही नहीं करता कि मैं ६६ साल का हो गया हूं । विदेशों में आज भी ऐसे लोग हैं जो रिटायरमेंट प्राप्त होने के बाद भी किसी नये अन्वेषण में भाग लेते हैं ।

अनियंत्रित भोग

विषय-सुख जीवन का न्यूनतम आनन्द है । जो इस सुखलिप्सा से प्रेरित होकर जीवन के सम्पूर्ण कार्य-कलाप करते हैं, वे जीवन-रहस्य से दूर भटक जाते हैं । भारतीय संस्कृति का आदर्श भोग नहीं अपितु त्याग रहा है । प्रश्न हो सकता है, ऐसा क्यों ? इसके स्पष्टीकरण में योगाचार्य कहते हैं—जीवन का अर्थ शक्ति-क्षय नहीं बल्कि शक्ति-संचय है । जो अनियंत्रित भोगेच्छा वाला है वह पूरे अमृत घट को फोड़कर उसके

पान की बात सोचता है। सच तो यह है कि प्रत्येक विषय व्यक्ति का भोग करता है अर्थात् उसके प्रतिफल में मानव को कुछ चुकाना होता है, उससे कई गुना अधिक सामर्थ्य नियंत्रित भोगवृत्ति वाले व्यक्ति में होता है। आध्यात्म दर्शन के अनुसार प्रत्येक इन्द्रिय-विषय-सम्पर्क, मानसिक संकल्प, 'निर्लक्ष्य जीवन-दिशाएँ', स्वप्न आदि सभी प्रकार के असत् कर्म व्यभिचार हैं, क्योंकि इन प्रवृत्तियों से जीवन विक्षिप्त रहता है। इस विक्षिप्तता—व्याकुलता से रहित जीवन जीने वाला त्याग और भोग दोनों के बीच की निष्कण्टक पगडंडियों पर अपनी यात्रा करता है।

योग शरीर और मन दोनों पर अनुशासन करता है। योग स्वस्थ जीवन जीने की एक कला है। इसका प्रारम्भ होता है आसनों के अभ्यास से। आसन क्रिया धीरे-धीरे हमारे सम्पूर्ण शरीर को प्रभावित करती है। जैसे

आसनों से मांसपेशियाँ मजबूत होती हैं।

जोड़ों में लचीलापन आता है।

पाचक रस ठीक बनता है।

फेफड़ों की श्वसनक्रिया संतुलित होने से रक्त-संचार में सुविधा प्राप्त होती है। शरीर के सभी सूक्ष्म-स्थूल अंग-प्रत्यंगों की मालिश होने से उनकी जीवनी शक्ति बढ़ती है।

जिम्मेदारियों और तनावों के बीच खड़े व्यक्ति के साथ जो बीतती है उससे भगवान ही बचाये। स्थिति यह है कि कुछ लोग परिस्थितियों से लड़ते-लड़ते अपने प्रतिबिम्ब से लड़ने लगते हैं। इस स्वयं के साथ छिड़े कुरुक्षेत्र में विजयी बनने के लिए जरूरी है, अपना सशक्त चरित्र बल और हर कठिनाई को पुलकन के पानी में भिगोकर पी लेने की हिम्मत। इस हताशा और निराशा से बचने का एकमात्र उपाय है—सरल, निर्मल और निर्विकार हंसी। जब-तब हंसते रहना। चिन्ता की डायन जिसके पीछे हो जाती है, उसकी जवानी क्या, पूरा जीवन ही समाप्त हो जाता है। जीवन का गुलाबी फूल देखते-देखते सूख जाता है। चिन्तित व्यक्तित्व पर बुढ़ापा तेजी से उतरता है अतः अपने स्वभाव को शान्त व मधुर बनाये रखने का अभ्यास करें।



‘श्वास हमारे जीवन को निरन्तर बदलता रहता है। यह बहुत बड़ी सच्चाई है। जब तक श्वास की गतिविधि को नहीं बदला जाता, तब तक साधना में विकास नहीं किया जा सकता—लम्बी यात्रा नहीं की जा सकती।’

—जेठालाल एस. भवेरी

म्हि और -स्सिं सप्तमी एकवचन की प्राचीन विभक्तियां

□ डॉ० के० आर० चन्द्र

पिशल (४२८) महोदय ने उत्तराध्ययन—१५-२ (४५४) और प्रज्ञापना सूत्र (६३७) से किम् का (सप्तमी एकवचन का) रूप 'कम्हि' उद्धृत किया है जो किसी न किसी प्रकार अर्द्धमागधी आगम में बच गया है। यही विभक्ति-प्रत्यय, व्यवहारसूत्र में भी मिलती है—इमम्हि (७-२२, २३)। कुन्दकुन्दाचार्य के प्रवचनसार में भी यही विभक्ति-प्रत्यय नामिक शब्दों में मिलती है। चरियम्हि १-७९, दवियम्हि २-६२, जिणमदम्हि ३-११, विकधम्हि, उवधिम्हि ३-१५, चेट्टम्हि ३-१९। इसी तरह इस ग्रन्थ में यह प्रत्यय स्त्रीलिंगी शब्दों में भी प्रयुक्त हुआ है।^१

उवएसमाला (धर्मदासगणि) में कम्हि, (गाथा नं० ७६) मिलता है। षट्खंडागम (पुस्तक, १३, पृ. २९७) में भी ऐसे प्रयोग हैं—एक्कम्हि, कम्हि, एगजीवम्हि।

यही—म्हि विभक्ति पालि भाषा में नाम और सर्वनाम दोनों तरह के शब्दों में प्रयुक्त हुई है; परन्तु प्राकृत साहित्य में उसका इतना प्रचलन नहीं मिलता है जितना पालि साहित्य में। प्राकृत व्याकरणकार वररुचि और हेमचन्द्र दोनों ने सप्तमी एकवचन के लिए—'म्हि' प्रत्यय का उल्लेख नहीं किया; फिर भी प्राकृत भाषा में कहीं न कहीं पर—'म्हि' वाले रूप मिल रहे हैं—जो किसी न किसी प्रकार लोकभाषा में प्रचलन के कारण बच पाये हैं। आचारांग में तो तृतीया बहुवचन की विभक्ति—भि (धीभि १-२-४-८४-म-जै. वि. संस्करण) भी बच गयी है।

शिलालेखों में यही -म्हि विभक्ति इस प्रकार मिल रही है—जैसे, अशोक के शिलालेखों में:—

नाम शब्द—अथम्हि (गि० ४, १०) सर्वनाम—तम्हि, इमम्हि, अज्जम्हि, एकतरम्हि (गि० ९-८, ४-१०, ९-२, १३-५) ये सभी शब्द गिरनार के लेखों में मिलते हैं। यही विभक्ति द्वितीय शताब्दी ई० पू० में कार्ले के लेख में 'जबुदीपम्हि', प्रथम शताब्दी ई० पू० में बुन्देल खण्ड के भरहुत के लेख में 'तीरम्हि' रेंवाराज्य की सीलहरा के प्रथम शताब्दी के गुफा लेख में 'करयंतम्हि', द्वितीय शताब्दी में दक्षिण के नागार्जुनी—कोण्ड के लेख में 'महाचेतियम्हि' और तीसरी शताब्दी में एलूरा के ताम्रपत्र में 'पदेसम्हि' में मिलती है। अर्थात् अशोक कालीन पश्चिम की यह विभक्ति मध्य भारत और दक्षिण

१. पिशल (३६६ अ) की दृष्टि में प्रवचनसार के ये रूप गलत हैं किन्तु डॉ० आ० ने० उपाध्ये ने इन्हें अपनाया है।

खण्ड १७, अंक २ (जुलाई-सितम्बर, ९१)

७३

भारत में भी प्रचलित हुई ।^१

आचार्य हेमचन्द्र के अनुसार नाम शब्दों में सप्तमी एक वचन के लिए सामान्यतः—
ए और—म्मि विभक्तियां (८-३-११) और सर्वनामों के लिए—स्सिं, म्मि और त्थ
(८-३-५६) विभक्तियां हैं किन्तु इनके प्राकृत व्याकरण में—अंसि विभक्ति का उल्लेख
नहीं है जो नाम और सर्वनाम दोनों में पायी जाती है । वररुचि के व्याकरण में भी
ऐसा उल्लेख नहीं है ।

अर्धमागधी में—अंसि विभक्ति के उदाहरण हैं—लोगंसि, आचा, १-१-१-६
(भ. जै. वि.), कंसि (पिशल ४२८) किन्तु पालिव्याकरण में नाम और सर्वनाम
शब्दों में सप्तमी एक वचन के लिए—स्मिं विभक्ति का उल्लेख है और साहित्य में उसका
प्रयोग भी मिलता है जबकि अशोक के शिलालेखों में पश्चिम के सिवाय अन्य क्षेत्रों में
सप्तमी एक वचन के लिए—सि (स्सि) विभक्ति मिलती है (मेहेण्डले पृ० २८३) ।

अर्धमागधी भाषा की—अंसि विभक्ति इस तरह न तो व्याकरणों में, न पालि में
और न ही अशोक के शिलालेखों में मिलती है । परन्तु ईस्वी सन् की तीसरी शताब्दी
में दक्षिण प्रदेश के क्रिष्णा जिले में तेनाली तालुके के कौंडमुडि गांव से मिले राजा जय
वर्मन के ताम्र-पत्र में—‘अंसि’ विभक्ति ‘एतंसि’ शब्द में पायी जाती है । इस तरह
वररुचि और हेमचन्द्राचार्य ने—म्हि और—अंसि विभक्तियों का सप्तमी एकवचन के
लिए उल्लेख नहीं किया है परन्तु शिलालेखों से उनके प्रचलन का अनुमोदन होता है ।

ऊपर के विवरण अनुसार सप्तमी एकवचन के विविध विभक्ति प्रत्ययों का
विकास निम्न प्रकार से हुआ—ऐसा साहित्यिक सामग्री, शिलालेखों और व्याकरणों से
प्रमाणित होता है—

सावनामिक विभक्ति—स्मिन् : स्मिं स्मि स्सि → (अंसि -) म्सि म्मि
स्मिं - स्मि = म्हि म्मि^१
स्मिं स्मि : म्हि = म्मि
स्मिं स्सिं स्सि - सि

पाली साहित्य में—स्मिं और—म्हि (गाइगर ७८, ८२, ६५) का प्रचलन रहा ।
व्याकरणकार मोग्लान के अनुसार पाली में—सि प्रत्यय भी था (गाइगर ७६) ।
अशोक के शिलालेखों में—सि (स्सि) और—म्हि प्रत्यय मिलते हैं और तीसरी शताब्दी
में दक्षिण में—अंसि प्रत्यय मिलता है । अर्धमागधी भाषा में—अंसि प्रत्यय मिलता है ।
लेकिन व्याकरणकार—स्सिं प्रत्यय का उल्लेख करते हैं ।

१. गिरनार लेख (४-१०) में इमम्हि के साथ अथम्हि और गिरनार (४-६) में
अंमम्हि प्रयोग मिलते हैं । गिरनार (२-१) विजितम्हि और (६-४) विनीतम्हि
प्रयोग भी हैं । विनीतम्हि धौली और जौगढ (६-२) में ‘विनीतंसि’ और
शाहवाजगढ़ी और मानसेहरा में ‘विनीतस्पि’ हो गया है । —संपादक

२. प्राकृत भाषा में अहम् के लिए अम्हि, अम्मि और म्मि का प्रयोग (हेमचन्द्र-८-३-
१०५) होता है और ये ‘अस्मि’ क्रियापद में से ही निकले हैं । ऐसा ही विकास—
म्मि विभक्ति का स्मि में से हुआ है ।

विविध प्राकृत भाषाओं में—अंसि—स्सिं,—म्हि, िमि, और—म्मि प्रत्यय मिलते हैं (पिशल ३६६ व और ४२५) । पिशल महोदय ने जैन शौरसेनी में मिलने वाले 'तम्हि' रूप को (४२५) गलत बताया है । हमारी दृष्टि से यह गलत नहीं होगा क्योंकि 'इमम्हि' रूप व्यवहार सूत्र में और—म्हि वाले प्रयोग कुन्दकुन्द-साहित्य में मिलते हैं ।—म्हि विभक्ति-प्रत्यय मात्र पाली भाषा का ही हो ऐसा एकांत दृष्टि से नहीं कहा जा सकता । कुछ प्रत्यय अमुक काल तक पालि और अर्धमागधी प्राकृत दोनों भाषाओं में समान रूप से प्रचलित रहे होंगे । ऐसा कहना अनुपयुक्त नहीं होगा । अथवा ऐसा भी असंभव नहीं माना जा सकता कि परवर्ती लेहियों ने प्राचीन प्रत्ययों के स्थान पर उस समय में चालू प्रत्ययों को रख दिया हो ।

ऊपर दिए गये अनेक विभक्ति प्रत्ययों में से—म्मि प्रत्यय सबसे बाद का मालूम होता है जिसकी उत्पत्ति ध्वनि परिवर्तन के सिद्धान्त से स्पष्टतः—म्हि में से हुई है और लेखन की असावधानी के कारण स और म के बीच भ्रम (लिपि दोष से 'स' में 'म' का भ्रम) हो जाने से 'म्मि' का 'म्मि' या 'ंसि' का 'मि' में परिवर्तन होना भी अशक्य नहीं कहा जा सकता । अर्धमागधी के प्राचीन अंशों में िंसि के स्थान पर 'मि' 'म्मि' आने का यह भी एक सबल कारण है ।

इस सारे विवेचन से यह फलित होता है कि यदि प्राचीन अर्धमागधी साहित्य की प्रतियों में स. ए. व. के लिए—स्सिं, स्सि, स्मि या म्हि प्रत्यय मिलते हों तो उन्हें गलत मानकर उनके स्थान पर िंसि और—म्मि का प्रयोग नहीं करना चाहिए ।

इस संदर्भ में प्राकृत भाषा की प्राचीनतम कृति से एक उदाहरण देना उपयुक्त रहेगा—सप्तमी एकवचन का—स्सिं प्रत्यय एक पाठान्तर के रूप में आचारांग में मिलता है—लोगस्सिं, सं, खं, जं, प्रतियों के अनुसार (आचारांग १-८-३-२०६ पृ० ७५, म, जं, वि० संस्करण) ।

आचार्य हेमचन्द्र के द्वारा—स्सिं विभक्ति सर्वनाम के लिए दी गयी है और यह उदाहरण नामिक विभक्ति का भी है । हमारे लेहियों अथवा अर्धमागधी भाषा के प्राचीन लक्षणों के बारे में अल्प जानकारी के कारण, संपादकों के हाथ कितनी ही प्राचीन विभक्तियां और प्रत्यय साहित्य में से लुप्त हो जाने की शंका होती है । जैसे आ० श्री हेमचन्द्र ने पंचमी एकवचन के लिए (स्मात्) = म्हा विभक्ति प्रत्यय के साथ कम्हा, जम्हा, तम्हा इत्यादि रूप तो (८-३-६६) दिये हैं परन्तु (स्मिन्)—म्हि विभक्ति का कोई उल्लेख तक नहीं किया है जो साहित्य में अत्रतत्र मिलती है । हो सकता है इसे पाली की विभक्ति समझकर मान्य नहीं रखा हो । जब व्याकरण ग्रंथ में उसे मान्यता नहीं मिली हो तब तो ऐसी विभक्ति का प्रयोग प्राचीन प्रतों में कहीं-कहीं पर मिला भी होगा तो उसका सामान्यतः त्याग ही कर दिया गया होगा ऐसा कहना अनुपयुक्त नहीं होगा ।

□ □

स्वर्गीय डा० काशीप्रसाद जायसवाल

काशीप्रसाद जायसवाल चार अगस्त सन् १९३७ को दिवंगत हुए। सन् १९१५ से जबकि 'बिहार एण्ड उड़ीसा रीसर्च सोसाइटी' की नींव रखी गई, मृत्यु पर्यन्त वे भारतीय बुद्धिबर्ग में अग्रगण्य बने रहे। भारत के प्रथम राष्ट्रपति डॉ० राजेन्द्र प्रसाद ने उनका स्वर्गवास होने पर लिखा था कि अपना अध्ययन समाप्त कर जैसे ही डॉ० जायसवाल भारत लौटे तो उन्हें बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय के इतिहास विभाग में अध्यक्ष पद ग्रहण करने का प्रस्ताव किया गया। बाद में कलकत्ता-विश्वविद्यालय में इतिहास विभाग के कुछ समय तक वे प्रोफेसर रहे भी; किन्तु वकालत करना जहां उनकी अपेक्षा थी वहां इतिहास-संशोधन उनकी हार्दिक विवशता थी।

बहुत ही विलक्षण बात है कि वे अपने समय के लॉ ऑफ इनकमटैक्स के अद्वितीय वकील थे। पटना हाईकोर्ट बार एशोसियन के प्रेजीडेंट पी. सी. मनुक ने लिखा है—“He had specialised in this line and there was hardly an Income Tax case of any importance in this Province (Bihar) in which he did not appear—and generally led—for the assessee.” दूसरी ओर वे प्राचीन भारतीय इतिहास, पुरातत्त्व, लेखविद्या और मुद्राशास्त्र में इतने पारंगत थे कि जहां बड़े-बड़े दिग्गज परिश्रान्त हो जाते, डॉ० जायसवाल वहीं से नया अध्याय शुरू कर देते। उनके व्यक्तित्व में कितना 'बेरिस्टर' और कितना 'रिसर्च-स्कॉलर' का मिश्रण था—यह कहना कठिन है। उनकी मेधा और अभिरुचि उन्हें इतिहास की ओर मोड़ती और विषयासक्ति कानून और न्यायालयों में घसीट लाती। वास्तव में एक रीसर्च-स्कॉलर दुर्भाग्य से बेरिस्टर बन गया था।

फिर भी जैसा कि डॉ० राजेन्द्रप्रसाद लिखते हैं—“It is not for a layman like me to assess the value of his researches, but I am not aware that any thing he has written or advocated as a result of his researches has been seriously challenged by scholars or displaced or falsified by later researches.” वास्तव में उनकी रिसर्च ने अनेकों मूर्धन्य विद्वानों को अपने निर्णयों पर पुनर्विचार को बाध्य किया। डॉ० स्मिथ को अपने ग्रंथ—‘भारत के प्रारंभिक इतिहास’ को संशोधित करना पड़ा। दूसरे विद्वानों को भी उनके ‘अन्धकार युगीन भारत’ और ‘हिन्दू-पोलिटी’ ने अनेकों प्रेरणाएं दीं। विशेष रूप से जैन जगत् तो डॉ० जायसवाल का ऋणी है कि उन्होंने “खारवेल-प्रशस्ति” के मूलपाठ और अर्थ-संदोहन का भगीरथ प्रयास किया।

—परमेश्वर सोलंकी

शाश्वत यायावरी जैन श्रमणों की*

□ मांगीलाल मिश्र

प्राचीन भारत में आजकल जैसे संचार-साधन न थे, फलतः व्यापार तथा अन्य व्यवसायों के लिये व्यापारी को स्वयं ही जाना पड़ता था। जोखिम भरे यात्राप्रसंग पथिकों के समूह के रूप में किये जाते थे। इसीलिये हेमचन्द्राचार्य कहते हैं—

‘संघसाथौ तु बेहिनाम्’—अभिधान चिंतामणिः (सामान्य कांड—१४१२)
इन्हीं पथिकों—साथों में जैनश्रमण भी सहभागी हुआ करते थे।

जैन साहित्य में एक ग्रंथ है—बृहत्कल्पसूत्र, जो स्वयं में काफी महत्त्वपूर्ण है। इसमें व्यावसायिक विशिष्ट परिभाषायें हैं, जो अन्य साहित्य ग्रंथों में नहीं मिलतीं। जैसे जलपट्टन समुद्री बन्दरगाह होता था, जहां विदेशी माल उतरता था और देशी माल का लदान होता था। इसके विपरीत स्थलपट्टन वे कहलाते, जहां बैलगाड़ियों से माल उतरता था। द्रोणमुख वे बाजार होते थे, जहां जल और थल दोनों से माल उतारा जाता था। प्राचीन भारत के ताम्रलिपि और भरकूछ द्रोणमुख बाजार थे। शाकल, आजकल का मियालकोट, एक ऐसा बाजार था, जहां चारों ओर से उतरते माल की गाठें खोली जाती थीं और इसीलिये वह पुटभेदन था।

आचारांगसूत्र—उसी श्रृंखला का दूसरा महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है, जो इस विषय में अद्भुत जानकारी देता है। वर्षा में जैन श्रमणों को यात्रा की मनाही है। इसलिए चातुर्मास में जैन-साधु ऐसी जगह ठहरते थे, जहां उन्हें सुविधा से भिक्षा मिल सके। श्रमणगण जंगलों से बचते तथा नदी पड़ने पर वे नाव द्वारा उसे पार करते थे। जैन साहित्य में नाव के माथा (पुरओ), गलही (मग्गओ) तथा मध्य का उल्लेख है, नाविकों की भाषा के भी उदाहरण मिलते हैं। यथा—

नाव आगे खींचो—संचारऐसि

नाव पीछे खींचो—उक्कासितये

नाव ढकेलो—आकसितये। इत्यादि

पतवार, बांस तथा दूसरे उपादानों द्वारा नाव चलाने का तथा आवश्यकता पड़ने पर नाव के छेद शरीर के किसी भाग, तसले, कपड़े, मिट्टी अथवा कमल के पत्तों से बन्द किये जाने का भी उल्लेख मिलता है। (आचारांगसूत्र, २,३,१,१०-२०)

जैनश्रमणों ने लिखा है कि प्राचीन भारत में राजमार्गों पर दस्युओं का बड़ा

* डॉ० मोतीचन्द्र के “सार्थवाह” (प्राचीन भारत की पथ पद्धति) सन् १९५३ के अध्याय नौ पर आधारित सूचनाएं—संपादक

खण्ड १७, अंक २ (जुलाई-सितम्बर, ६१)

७७

उपद्रव रहता था। विपाकसूत्र (३,५६-६०) में विजय नाम के दुस्साहसी डाकू की कथा है। विजय इतना प्रभावशाली डाकू था, कि अक्सर वह राजा के लिये कर वसूला करता था। चौरपल्लियां प्रायः वनों, खाइयों और बांस के झुरमुटों से घिरी तथा पानी वाली पर्वतीय घाटियों में बसी होती थीं। डाकू निडर होते थे। उनकी आंखें तेज होती थीं तथा वे तलवारबाजी में निपुण होते थे।

आचारांगसूत्र (२।१३।१।८) के अनुसार—लम्बी मंजिल पार करने पर यात्री बहुत थक जाते थे। इसलिये उनके सुस्ताने का प्रबन्ध था। पैरों को धोकर मालिश की जाती थीं।

बृ०क०सू० भाष्य (१२२६) बतलाता है कि जैन साधु केवल धर्मप्रचार के लिये ही यात्रा नहीं करते थे, अपितु वे जहाँ जाते थे, उन स्थानों की भलीभाँति जांच-पड़ताल करते थे, इस पड़ताल को “जनपद-परीक्षा” कहा जाता था। यात्रा करते-करते श्रमण कई भाषायें सीख लेते थे। विविध प्रकार के इस ज्ञान का लाभ उनके शिष्यों को भी मिलता था। अनजानी भाषाओं का ज्ञान प्राप्त करके साधुजन उनमें ही लोगों को उपदेश देते थे।

जैनश्रमणों की जनपद-परीक्षा प्रणाली से और भी कई बातों का ज्ञान उपलब्ध होता है। यथा—भिन्न-भिन्न प्रकार के अन्न उपजाने के लिये किस प्रकार की सिंचाई आवश्यक है। कुछ प्रदेश खेती के लिये केवल वर्षा पर निर्भर रहते, जैसे लाट (गुजरात) प्रदेश। कहीं नदी से सिंचाई होती, जैसे सिन्ध। कहीं तालाब के जल से, जैसे द्रविड़देश। कहीं कुओं से सिंचाई होती, जैसे उत्तरापथ। तो कहीं बाढ़ का पानी उत्तर जाने पर अन्न बोया जाता। कहीं पर धान बोया जाता। बृ०क०सू० के भाष्यकार इस प्रकार से स्थान का उदाहरण “कानन-कीप” नामक स्थान का देते हैं।

आवश्यकचूर्ण (पृ० ५८१) में चार तकनीकी शब्द हैं—छन्द, विधि, विकल्प और नेपथ्य। छन्द अर्थात् भोजन, अलंकार आदि, विधि अर्थात् स्थानीय रीतिरिवाज, विकल्प अर्थात् खेतीबाड़ी, घर-द्वार आदि और नेपथ्य से वेशभूषा की बात। ये चारों शब्द देशकथा के विषयों पर प्रकाश डालते हैं।

बृ०क०सू० भाष्य (३०६६—३०७२) व्यावसायिक काफिलों, माल तथा मार्ग की विपत्तियों का विस्तृत वर्णन करता है। उसके अनुसार ये काफिले पांच तरह के होते थे—

- (१) मंडी—माल ढोने वाले काफिले
- (२) भारवह—अपना भार खुद ढोने वाले काफिले
- (३) बहलिका—ऊंट, खच्चर, बैल वाले काफिले
- (४) औदरिक—आजीविका के लिये एक स्थान से दूसरे स्थान पर घूमने वाले मजदूरों के काफिले
- (५) कार्पटिक—भिक्षुओं तथा साधुओं के काफिले

काफिले जिस माल को ढोते थे, उसे “विघ्नान” कहते थे। यह माल चार प्रकार का होता था :—

- (१) गणित—जिसे गिन सकते थे, जैसे सुपारी आदि
- (२) धरिम—जिसे तौल सकते थे, जैसे शर्करा
- (३) मेय—जिसे नापा जा सकता था, जैसे घी
- (४) परिच्छेद्य—जिसे देखकर जांचा जा सकता था, जैसे कपड़े, जवाहरात आदि ।

काफिले के साथ डोली, घोड़े, भैंसे, खच्चर, हाथी और बैल होते थे, जिन पर अशक्त, रूग्ण और बालक बैठ सकते थे । यात्रा में प्रायः काफिलों को अचानक आई विपत्तियों का सामना करने के लिये तैयार रहना पड़ता था । इन आकस्मिक विपत्तियों में—घनघोर वर्षा, बाढ़, दस्यु, राज्य-विप्लव आदि होती थीं । रास्ते की विपत्तियों से बचने के लिये छोटे-छोटे सार्थ बड़े सार्थों के साथ मिलकर चलते थे । ऐसे सार्थ एक दिन में उतनी ही मंजिल पार करते थे—जितनी बाल-वृद्ध आसानी से तय कर सकते थे । बृ०क०सू० का भाष्यकार कहता है (३०७६), कि—एक अच्छा सार्थ मुख्य राज-पथ पर चलता हुआ धीमी गति से आगे बढ़ता था । रास्ते में भोजन के समय वह ठहरता जाता था और मंजिल पर पड़ाव डालता था । वह उसी मार्ग को पकड़ता था, जो गांवों तथा चरागाहों से होकर गुजरता था । उसका पड़ाव ऐसे स्थान पर डाला जाता, जहां साधुओं, भिक्षुओं को आसानी से भिक्षा मिल सके ।

आवश्यकचूर्ण (पृ० १०८-११५) ग्रंथ साधुओं-श्रमणों की यात्राओं में आने वाले कष्टों की भी सूचना देता है । यात्रायें बहुधा सुखकर नहीं होती थीं । कभी जब श्रमण भिक्षाटन पर चले जाते तो कारवां आगे बढ़ जाता था । परिणामस्वरूप साधु भटक जाते । एक ऐसे ही वाक्या का उदाहरण देता हुआ चूर्णकार लिखता है कि कारवां से भटके हुए साधु राजा की गाड़ियों के पड़ाव पर पहुंच गये, जहां उन्हें भोजन मिला और सही रास्ते की जानकारी भी । आव० चूर्ण में इस बात का उल्लेख (पृ० ११५) है कि क्षि तिप्रतिष्ठ और वसन्तपुर के बीच चल रहे एक कारवां के मुखिया ने इस बात की मुनादी करा दी कि उसके साथ यात्रा करने वालों को भोजन, वस्त्र, बर्तन और दवाइयां निःशुल्क मिलेंगी ।

यात्राओं में साधुओं द्वारा विपरीत या कि अनुकूल परिस्थितियों में अपना प्रबन्ध करना संभव था, पर साध्वियों को बड़ी कठिनाई का सामना करना पड़ता था । बृ० क०सू०भा० (४.२) के एक सूत्र में कहा गया है कि साध्वी आगमनगृह में, छाये अथवा बेपर्द घर में, चबूतरे पर, पेड़ के नीचे अथवा खुले में अपना डेरा नहीं डाल सकती थीं । आगमनगृह में सब प्रकार के यात्री टिक सकते थे, मुसाफिरों के लिये ग्रामसभ्य, प्रपा (बाबड़ी) और मन्दिरों में ठहरने की व्यवस्था रहती थी । साध्वियां यहां इसलिये नहीं ठहर सकती थीं कि पेशाब, पाखाना जाने पर लोग उन्हें बेशर्म कहकर हंसते थे, गृहस्थों के सामने साध्वियां अपना चिन्तन निश्चित नहीं कर पाती थीं । इन आगमनगृहों में प्रायः बदमाशों से घिरी बदचलन औरतें और वेश्यायें होती थीं । वे यहां नियमानुसार युवापुरुषों से बातचीत नहीं कर सकती थीं । साध्वियां प्राकारावृत मन्दिर में ठहर सकती थीं । मन्दिर में स्थान न मिलने पर वे गांव के मुखिया (ग्राम-महत्तर) के यहां ठहर

सकती थीं ।

अपने धार्मिक आचारों की कठिणता के कारण जैनश्रमण समुद्रयात्रा नहीं करते थे । पर बौद्धों की तरह जैन व्यापारी समुद्रयात्रा के प्रशंसक होते थे । जैन साहित्य में इन यात्राओं का सजीव तथा रोचक वर्णन मिलता है । आ०चू० में (पृ० ७०६) एक कथा आई है कि पण्डु-मथुरा के राजा पण्डुसेन की मति और सुमति नाम की दो कन्यायें जब जहाज से मुराष्ट्र को चलीं तो रास्ते में तूफान आया और यात्री उससे बचने के लिये रुद्र तथा स्कन्द की प्रार्थना करने लगे ।

समुद्रयात्रा के कुशलतापूर्वक समाप्त होने के लिये अनुकूल वायु का बहना आवश्यक था और निर्यामकों को समुद्री हवा के रुखों का कुशलज्ञान भी जहाजरानी के लिये बहुत आवश्यक माना जाता था । जैन साहित्य में सोलह प्रकार की समुद्री हवाओं का उल्लेख मिलता है ।

ज्ञाताधर्मकथा की दो कहानियों से भी प्राचीन भारतीय जहाजरानी पर काफी प्रकाश पड़ता है । एक कथा में कहा गया है कि—चम्पा नगरी में समुद्री व्यापारी रहते थे । ये व्यापारी नाव द्वारा गणिम (गिनती), घरिम (तौल), परिच्छेद (जांचने योग्य) तथा मेय (नाप) की वस्तुओं का विदेशों से व्यापार करते थे । चम्पा से यह सब माल बैलगाड़ियों पर लाद दिया जाता था । यात्रा के समय मित्रों और रिश्तेदारों का भोज होता था । व्यापारी सबसे मिल-जुलकर शुभ मुहूर्त में गंभीर नाम के बन्दर (पोयपत्तण) की यात्रा पर निकल पड़ते थे । बन्दरगाह पर पहुंच कर गाड़ियों पर से सब तरह का माल उतार कर जहाज पर चढ़ाया जाता था और उसके साथ ही खाने-पीने का भी सामान, जैसे—चावल, आटा, तेल, घी, गोरस, मीठे पानी की द्रोणियां, औषधियां तथा बीमारों के लिये पथ्य भी लाद दिये जाते थे । समय पर काम आने के लिये लकड़ी, कपड़े, अन्न, शस्त्र तथा अन्य कीमती माल भी साथ रख लिया जाता था । जहाज छूटने के समय मित्र और संबंधी शुभकामनायें और सकुशल वापिसी के लिये हार्दिक अभिलाषा भी प्रकट करते । व्यापारी वायु और समुद्र की पूजा कर मस्तूलों पर पताकायें चढ़ाते । यात्रापूर्व राजाज्ञा ले ली जाती । डांड चलाने वाले तथा खलासी रस्सियां ढीली कर देते । इस प्रकार बन्धनमुक्त होकर पाल हवा से मर जाता तथा पानी काटता जहाज आगे चल पड़ता ।

एक अन्य कथा में सामुद्रिक विपत्तियों का चित्रण है । एक समय एक व्यापारी समुद्रयात्रा के लिये हत्थिस्तीस नामक नगर से बन्दरगाह को चला । रास्ते में तूफान से जहाज क्षतिग्रस्त हो गया । घबराकर निर्यामक भौचक्का हो गया । वह दिशा भूल गया । निर्यामक आदि सभी लोग तब देवताओं (इन्द्र, स्कन्द आदि) की प्रार्थना करने लगे । जहाज विपत्ति से उबर आया । फिर जहाज कालियद्वीप आ पहुंचा । आगे कालियद्वीप के राजा का वर्णन आता है । बहुमूल्य सामान के लेन-देन का और फिर आगे यात्रा की निरन्तरता के वर्णन मिलते हैं ।

इन कथाओं से पता चलता है कि प्राचीनकाल में भारतवर्ष में भी भीतरी तथा बाहरी व्यापार खूब जोरों से चलता था । अन्य सामान के साथ कपड़ों का व्यापार भी

उन्नत अवस्था में था। रेशमी वस्त्र प्रायः चीन से आता था (चीनांशुक), गुजरात की पटोला साड़ियां काफी प्रसिद्ध थीं। काशी के वस्त्र भी विख्यात थे। बृ०क०सू०भा० (३६१२) के अनुसार—नेपाल, ताम्रलिप्ति, सिंधु और सौवीर अच्छे कपड़ों के लिये स्मरण किये जाते थे।

एक और ग्रन्थ—अन्तगडदसाओ (पृ० २८-२९, लन्दन) से जानकारी मिलती है, कि भारतवर्ष में विदेशी दास-दासियों की भी खूब खपत थी। बंसु, यूनान, सिंहल, अरब, बलस और फारस आदि देशों से इस देश में दासियां आती थीं। ये दासियां अपने-अपने देश की भाषा और वेशभूषा का व्यवहार करतीं। इस देश की भाषा न जानने के कारण केवल इशारों से ही काम चलातीं। आवश्यकचूर्णि (पृ० १२०) के अनुसार—कुछ इसी प्रकार कतिपय विदेशी भी अपने व्यवसाय में स्थानीय भाषा की अज्ञानता के कारण केवल इशारों से सौदा सम्पन्न किया करते थे। वे अपने माल की ढेरियां लगा देते और फिर उन्हें अपने हाथों से ढंक देते। सौदा पटने तक वे उसे ढंके रहते थे।

ये कुछ उदाहरण हैं, जो द्रष्टव्य हैं। श्रमण-यायावरों के बहुविध वर्णनों से साहित्य भरा पड़ा है। यों हम अतीत में झाँकें तो श्रमणों की सतत यायावरी ने भारतीय साहित्य तथा संस्कृति-सभ्यता की अमूल्य सेवायें की हैं, यह क्रम आज भी जारी है।

□ □

युगप्रधान आचार्यश्री तुलसीगणि की यायावरी

[विक्रमी संवत् १९६३ से २०४८ तक]

चतुर्मास स्थल गंगापुर तक-४३२, बीकानेर-६४५, सरदारशहर-३६४, बीदासर-२५२, लाडनू-३३५, राजलदेसर-१५१, चूरू-२६६, गंगाशहर-३४३, सुजानगढ़-२३२, श्रीडूंगरगढ़-२६६, राजगढ़-३१६, रतनगढ़-१२०, छापर-१३३, जयपुर-३६१, हांसी-७४७, दिल्ली-१२३२, सरदारशहर-५६०, जोधपुर-७१०, बम्बई-१५२२, उज्जैन-१४२०, सरदारशहर-१२४०, सुजानगढ़-६०३, कानपुर-१५६५, कलकत्ता-१४४३, राजसमन्द-३०४०, बीदासर-१३४१, उदयपुर-१२१०, लाडनू-६६०, बीकानेर-११५०, दिल्ली-१५७२, बीदासर-१३२४, अहमदाबाद-१६५४, मद्रास-२४६०, बंगलौर-२६००, रायपुर-२७३०, लाडनू-१६७०, चूरू-६२१, हिसार-५४०, दिल्ली-६६२, जयपुर-८३०, सरदारशहर-५३३, लाडनू-२७५, गंगाशहर-२२६, लुधियाना-१२५०, लाडनू-११६०, नई दिल्ली-१००४, राणावास-१२८०, बालोतरा-१३५०, जोधपुर-१००८, आमेर-१०८०, लाडनू-१०६०, नई दिल्ली-५४५, श्रीडूंगरगढ़-६००, लाडनू-३३५, पाली-५०७, लाडनू-५१०, जयपुर-२४५, शेष यात्रा-६२४ कि. मी.—कुल-५४५७० किलोमीटर।

अतिशीघ्र प्रकाशित हो रहा है ।

एक बूंद : एक सागर

(आचार्यश्री तुलसी की सूक्तियों का दुर्लभ संग्रह)

तेरापंथ के वर्तमान आचार्य, अणुव्रत-अनुशास्ता, युगप्रधान, आगम वाचना प्रमुख और आधुनिक परिवेश में स्वस्थ परंपराओं के सर्जक, संवाहक, क्रान्तदर्शी आचार्य श्री तुलसी मानवीय मूल्यों के प्रतिष्ठापक और दुर्निग्रह सांसारिक द्वन्द्वों के तटस्थ और निर्लिप्त द्रष्टा हैं। वे कवि, मनीषी, परिभू-स्वयंभू, साहित्यकार और प्रखर वक्ता हैं। किसी भी विषय पर उनके द्वारा की गई टिप्पणियां और प्रतिध्वनियां सदैव सार्थक, साभिप्राय और सर्वजनहिताय होती हैं। अपनी विलक्षण, विचक्षण और विस्मयजनक सूक्तियों के लिए आचार्यश्री को अनेकों बार साधुवाद मिला है।

अपने षष्ठिवर्षीय चिंतन-मनन से उन्होंने अनेकों अनुभव-जन्य सूत्र संसिद्ध किए हैं जो त्रस्त, पीड़ित और दुःस्थ मानवों को सामयिक मार्गदर्शन दे सकते हैं। समणी कुसुमप्रज्ञा ने इन सूत्रों को आचार्यश्री की रचनाओं और प्रवचनों से संग्रह किया है और अब वे पांच खण्डों में प्रकाशित हो रहे हैं।

'एक बूंद : एक सागर' नाम से प्रकाशित होने वाली यह श्रुत-सन्निधि समान रूप से सभी प्रकार के पाठकों के लिए 'कठौती में गंगा वत्' संताप-नाशक औषधि है। लगभग २०० पुस्तकों और हजारों पत्र-पत्रिकाओं से संकलित यह सूक्ति-संग्रह हर व्यक्ति के लिए पठनीय, मननीय और संग्रहणीय है।

प्रकाशक

जैन विश्व भारती, लाहन्-३५९३०६

क्या सामान्य केवली के लिए अर्हन्त पद उपयुक्त है ?

□ साध्वी डॉ० सुरेखाश्री

जैन दर्शन के अनुसार व्यक्ति अपने कर्मों का विनाश करके स्वयं परमात्मा बन जाता है। परमात्मा की अवस्थाएँ हैं—शरीर सहित जीवन्मुक्त अवस्था और दूसरी शरीर रहित देह-मुक्त अवस्था। पहली अवस्था अर्हन्त तथा दूसरी अवस्था सिद्ध कही जाती है। अर्हन्त भी दो प्रकार के हैं—१. तीर्थङ्कर २. सामान्य। विशेष पुण्य सहित अर्हन्त, जिनके कि कल्याणक महोत्सव सुर-नर-इन्द्रादि द्वारा मनाये जाते हैं तथा पूर्व गत तीसरे भव में जिन नाम कर्म का बंध किया हो वे तीर्थङ्कर कहलाते हैं। शेष अन्य सभी जिन्होंने कर्म क्षय किया हो, वे सामान्य अर्हन्त कहलाते हैं। घाति कर्मों का क्षय करके केवलज्ञान अर्थात् सर्वज्ञत्व से युक्त होने के कारण इन्हें केवली भी कहते हैं।

तीर्थङ्कर तथा सामान्य केवली दोनों के अष्ट कर्मों के विभाजित भेद, घाति तथा अघाति कर्मों में से घाति कर्मों के क्षय हो जाने के पश्चात् केवलज्ञान उत्पन्न होता है। ज्ञान की अपेक्षा दोनों ही समान कोटि में आते हैं तथापि तीर्थङ्करों के जिन नाम कर्म का बंध होने से विशेष महिमा होती है, उनके कल्याणक महोत्सव इन्द्र देव और मनुष्यों द्वारा मनाये जाते हैं। यहाँ तक कि उनके जन्म के समय सर्व लोक में उद्योत होता है तथा प्राणिमात्र को अपूर्व सुखानुभूति होती है।'

तीर्थङ्कर तथा केवली दोनों की ज्ञान-सीमा तुल्य होने पर भी तीर्थङ्कर को अर्हन्त कहा जाता है। आगमों में इसका प्रमाण सर्वत्र दृष्टिगोचर होता है। चतुर्विंशतिस्तव अर्थात् 'लोगस्स सूत्र' में इसका स्पष्टतया उल्लेख है—

लोगस्स उज्जोअगरे धम्मतित्थयरे जिणे ।

अरहन्ते कित्तइस्सं चइवीसंपि केवली ॥'

यहाँ स्पष्टतया चौबीस तीर्थङ्करों को जिन, केवली तथा अर्हन्त कहा गया है। इसी प्रकार 'शक्रस्तव' अथवा 'णमुत्थुणं सूत्र' में भी इसी भाव को पुनः स्पष्ट किया है—
णमुत्थुणं अरहन्ताणं भगवन्ताणं । आइगराणं तित्थयराणं ।

—जो धर्म का आदि करते वाले तीर्थङ्कर भगवन्त हैं, ऐसे अर्हन्तों को नमस्कार हो।'

इसके अतिरिक्त आगमों में जहाँ तहाँ भी तीर्थङ्कर भगवान् का किञ्चिन्मात्र भी

१. आवश्यक चूर्ण पृ० १३५, पन्नवणा २३ ।

२. आव. सूत्र अध्य. २ ।

३. भगवती सूत्र—१.१, २.१, ३.१, औप. ८७, कल्प सूत्र पृ० ३

खण्ड १७, अंक २ (जुलाई-सितम्बर, ६१)

८३

वर्णन किया गया है, सर्वत्र अरहा, अहंन् अहन्त, अरिहन्त आदि विशेषणों सहित ही वर्णन किया गया है। अंग, उपांग, प्रकीर्णक, अन्य आनुषंगिक ग्रंथों में भी इसी प्रकार का वर्णन है। आचाराङ्ग, सूयगडाङ्ग, ठाणाङ्ग, भगवती आदि अंग आगमों में प्रचुर मात्रा में उल्लेख दृष्टिगत होता है। इसी का अनुकरण उपांग आदि ४५ आगम ग्रंथों एवं अन्य सभी ग्रंथों में हुआ है।

आधुनिक काल में व्यवहार से सामान्य केवली को भी अर्हत कह दिया गया है,^१ किन्तु किसी भी आगम ग्रंथ में तथा आनुषंगिक ग्रंथ में एक भी प्रमाण दृष्टिपथ पर नहीं आता। गणधरों में किसी को भी अर्हन्त पद से आगम-ग्रंथों में विभूषित नहीं किया गया। भगवान् महावीर के पट्टधर सुधर्मा स्वामी की यशोगाथा से ही सर्व आगम ग्रंथों का प्रणयन तथा प्रारंभ होने पर भी किसी ने भी अर्हन्त पद से उनको अलंकृत नहीं किया है।

हो सकता है आगम ग्रंथों को स्वयं गणधरों ने शब्दों की शृंखला में निबद्ध किया है, अतः स्वयं को अर्हत पद न लगाया हो। अन्तिम केवली जम्बूस्वामी को भी इस पद से अलंकृत नहीं किया गया। अंतगडदशाङ्ग में अन्तकृत् (उसी समय केवलज्ञान होकर निर्वाण हो जाना) केवलियों का ही वर्णन मिलता है, उसमें भी किसी भी केवली भगवन्त को इस पद से सुशोभित नहीं किया गया। इस अवसर्पिणी में प्रथम केवली महदेवी माता हुई, उनको भी अर्हत् पद नहीं लगाया गया।^२

सैद्धान्तिक अपेक्षा से अर्हत पद मात्र तीर्थङ्कर के साथ ही ग्राह्य हुआ है। चौतीस अतिशय^३, बारह गुण^४, वाणी के पैंतीस अतिशय^५, इनमें अर्हत पद में तीर्थंकर प्रभु की महिमा का ही गुणगान हुआ है। अष्ट प्रातिहार्य^६, समवसरण की रचना, सुवर्ण कमलों पर पद न्यास, च्यवन के समय माता को दिव्य स्वप्न-दर्शन^७, जन्म के ६ मास पूर्व ही देवों द्वारा रत्नों तथा सौनैयों का वर्षण, जन्मावसर पर इन्द्र का आसन चलायमान होना, छप्पन दिक्कुमारिकाओं द्वारा सूति कर्म करना, जन्माभिषेक हेतु शकेन्द्र का विकुर्वण द्वारा पंच रूपों में मेरु गिरि पर ले जाकर क्षीरोदक से १००८-१००८ सुवर्ण, रत्न, मृत्तिका आदि कलशों द्वारा अभिषेक करना। दीक्षा के अवसर पर लोकान्तिक देवों द्वारा विनम्र प्रार्थना, महाभिनिष्क्रमण से पूर्व एक वर्ष तक संवत्सर दान (वर्षादान) आदि आदि^८ अनेक गाथाएं तीर्थङ्कर प्रभु के यशोगान से जुड़ी हुई हैं, जबकि सामान्य केवली के साथ ऐसा एक भी प्रसंग नहीं होता। इससे यही ज्ञात होता है कि अर्हत पद को तीर्थङ्कर मात्र के लिए ही उपयोग करना चाहिए।

फिर किस अपेक्षा से केवली को अर्हत कहा गया है, उस पर भी हम दृष्टिपात करें। भगवती सूत्र का प्रारंभ नमस्कार महामंत्र के मंगल से हुआ है। नमस्कार महामंत्र

१. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश भाग-२ पृ० १५५ [ज्ञानपीठ-संस्करण]

२. आव० चूर्ण—पत्र १८१

३. समवायाङ्ग ३४.१; भगवती. ६. ३३

४. ज्ञाताधर्मकथाङ्ग-८, भगवती १२. ८, विशेषावश्यक ३०४६,

५. समवायाङ्ग ३५. १।

६. भग. वृत्ति १. १., आव० चूर्. १८२।

७. नायाधम्मकहाओ. १.१.२६, अंतगड- ३. ८, जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति, पंचम वक्ष।

८. आव. चूर्ण पत्र. १३६-१५७. नाया. ८।

जिसे कि 'परमेष्ठी मंत्र' तथा 'पंचमंगल महाश्रुत स्कन्ध' भी कहा जाता है, उसके टीकाकार अभयदेव सूरि ने इस पद पर विस्तृत वृत्ति/टीका रची है। 'णमो अरहंताणं' में "अरहन्त पद" की व्याख्या करते हुए श्रीमद् अभयदेवसूरि का कथन है कि—"अमर वरविनिर्मिता-शोकादि महाप्रातिहार्यरूपां पूजामर्हन्तीत्यर्हन्तः"^१—अर्थात् देवों द्वारा रचित अशोक वृक्षादि (आठ) महाप्रातिहार्य रूप पूजा के जो योग्य हैं, वे अर्हन्त कहलाते हैं। इसी प्रकार का कथन आवश्यक निर्युक्ति में भी है।^१

'अरहंताणं' पद की व्याख्या अभयदेव सूरि दूसरी प्रकार से भी करते हैं "अथवा अविद्यमानं वा रहः—एकान्त रूपो देशः अन्तश्चः—मध्यं गिरिगुहादीनां सर्ववेदितया समस्तवस्तुस्तोमगतप्रच्छन्नत्वस्याभावेन येषां ते अरहोऽन्तरः"^२ अथवा यहां 'अरहंताणं' का अरहोन्तर्भ्यः: ऐसा अर्थ भी निकलता है। 'रहः' यानि एकान्त गुप्त प्रदेश और 'अंतर' अर्थात् पर्वत की गुफा आदि का मध्य भाग। तात्पर्य यह है कि सर्वज्ञ होने से भगवान् से जगत् की सर्व वस्तुओं में से कोई गुप्त नहीं होती। अतः भगवान् अरहोन्तर कहलाते हैं।

"अथवा अविद्यमानो रथः—स्यन्दनः सकलपरिग्रहोपलक्षणभूतोऽन्तश्च विनाशो जरा-द्युपलक्षणभूतो येषां ते अरथान्ताः"^३ अथवा यहां 'अरहंताणं' का 'अरथोन्तेभ्यः' ऐसा अर्थ भी संभव है। 'रथ' शब्द का उपलक्षण से 'सर्व प्रकार का परिग्रह' ऐसा अर्थ समझना। 'अंत' यानि विनाश तथा उपलक्षण से (जन्म) जरा वगैरह भी समझना। अर्थात् जिनके सर्व प्रकार का परिग्रह और जन्म, जरा, मृत्यु नहीं है, ऐसे अरथान्त अरहंत भगवान् को नमस्कार हो।^४

पुनः व्याख्या करते हैं—'अथवा' 'अरहंताणं' ति क्वचिदप्यासक्तिमगच्छद्भ्यः क्षीण-रागत्वात्^५ अर्थात् 'अरहंताणं' राग का क्षय होने से किसी भी पदार्थ पर आसक्ति नहीं होने से अरहंत भगवन्तों को नमस्कार ही।^६

भिन्न रूप से पुनः व्याख्या करते हैं—"अथवा अरहयद्भ्यः—प्रकृष्टरागादिहेतुभूत-मनोज्ञतरविषय-संपर्कऽपि वीतरागत्वादिकं स्वं स्वभावमत्यजद्भ्यः इत्यर्थः"^७—अथवा 'अरहं-ताणं' यानि अरहयद्भ्यः (रह् धातु का त्याग देना अर्थ होता है) अर्थात् प्रकृष्ट राग तथा द्वेष के कारणभूत अनुक्रम से मनोहर तथा अमनोहर विषय का संपर्क होने पर भी वीतरागत्व आदि जो अपना स्वस्वभाव है, उसका त्याग नहीं करने वाले—ऐसे अरहंत भगवन्तों को नमस्कार हो।^८

अन्य पाठान्तर का उल्लेख करते हुए सूरिदेव कहते हैं—'अरहंताणं' ति पाठान्तरम् तत्र कर्मारिहन्तृभ्यः, आह च—

१. भगवती वृत्ति १. १. प्रका. जिनागम प्रकाशक सभा: बम्बई, अनु. संशो.-पं. बेचरदासजी।

२. आब. नि. गा. ६२१

अरहंति वंदनमंसणाणि अरहंति पूयसङ्कारं।

सिद्धिमगं च अरहा अरहंता तेण वुच्चंति ॥

३. भगवती सूत्र वृत्ति, १.१ प्रका.—जिनागमप्रकाशक सभा, अनु. पं. बेचरदासजी।

४. भ. वृ. १.१

५. भ. वृ. १.१

६. वही

७. वही

८. वही

खण्ड १७, अंक २ (जुलाई-सितम्बर, ६१)

८५

अदृढिहंपि य कम्मं अरिभूयं होइ सयल जीवाणं ।

तं कम्ममरि हंता अरिहंता तेण वुच्चंति ॥^१

अथवा 'अरहंताण' के स्थान पर 'अरिहंताण' ऐसा पाठ भी मिलता है। 'कर्मरूप शत्रुओं का हनन करने वाले अरिहंत भगवन्तो को नमस्कार हो।' ऐसा अर्थ वहां समझना चाहिये। (आवश्यक निर्युक्ति में) कहा है—'आठ प्रकार का कर्म ही शत्रु रूप है, उन कर्म रूपी शत्रु का नाश करने से अरिहंत कहे जाते हैं।'^२

अन्य पाठान्तर का भी सूरिदेव उल्लेख करते हैं—'अरहंताण' मित्यपि पाठांतरम्, तत्र अरोहद्भ्यः अनुपजायमानेभ्यः, क्षीणकम्म-बीजत्वात्—अथवा 'अरहंताण' के स्थान पर 'अरहंताण' पाठ भी मिलता है। 'जन्म नहीं लेते'—इस पाठ का तात्पर्य है, क्योंकि कर्म रूपी बीज क्षीण हो जाने से भगवान् पुनः जन्म नहीं लेते।^३

इस प्रकार उपर्युक्त व्याख्याएं श्री अभयदेव सूरि जी महाराज ने मात्र 'अरहंताण' पद की हैं, जिसमें तीर्थंकर व केवली दोनों को अरहंत कहा जा सके, ऐसी समान व्याख्या भी है। पर पाठांतर में जिन व्याख्याओं को आलेखित किया है, अधिकांश वे ही व्याख्याएं केवली भगवंत के साथ विशेष रूप से लागू होती हैं। कर्मरूपी शत्रुओं का नाश, तथा जन्म-जरा-मृत्यु के निवारण हो जाने से अपुनरागमन के अतिरिक्त किसी भी रहस्य का गुप्त न होना, सर्व परिग्रह का त्याग, राग का क्षय, आसक्ति न होना, बीतरागता से युक्त होना, इन सभी में व्यवहार नय से समानता होने पर भी निश्चय नय से अष्ट महाप्रातिहार्य आदि गुणयुक्त होने से तीर्थंकरत्व ही अर्हन्त पद के उपयुक्त है। सामान्य केवली में इन गुणों का कोई स्थान नहीं। अस्तु,

अब प्रश्न यह उठता है कि जब तीर्थंकर को ही अर्हन्त पद के लिए उपयुक्त समझा जाए तो सामान्य केवली को पंच-पदों में से किस पद पर आरूढ़ करके नमस्कार किया जाए? सिद्ध पद तो केवली पर्याय में अर्थात् तेरहवें तथा चौदहवें गुणस्थान के आरोह क्रम में हो नहीं सकता। अतः णमो सिद्धाण' के अंतर्गत भी नहीं माना जा सकता। आचार्य तथा उपाध्याय पद भी केवली भगवान् के उपयुक्त नहीं है। शेष रहे पंचम पद 'णमो लोए सब्ब साहूण' क्या इस पद में नमस्कार किया जा सकेगा? क्योंकि अर्हन्त, आचार्य, उपाध्याय भी साधु पद से विहीन नहीं हैं। अतः सहज ही साधु पद में तो गणना की जानी संभव हो जाती है।

इस प्रकार 'अर्हन्त' के अधिकारी मात्र तीर्थंकर को ही मानना चाहिये, केवली को नहीं, क्योंकि केवली के अर्हन्त की भांति न तो अतिशय होते हैं और न गुण ही। पंचकल्याणक आदि केवली (सामान्य) के नहीं होते, और न ही उनकी महिमा अर्हन्त की तरह होती है। इस के अतिरिक्त संघ रूपी तीर्थ के प्रस्थापक भी अर्हन्त ही होते हैं।^४ साधु-साध्वी तथा श्रावक-श्राविका, इन चारों को चतुर्विध संघ कहा जाता है, जिसे अर्हन्त तीर्थ रूप में स्वीकार करके स्वयं 'णमो तित्थस्स' कह कर अपनी योजनगामिनी देशना प्रारम्भ करते हैं। इस संघ की स्थापना अपने अपने शासनकाल में स्वयं तीर्थंकर करते हैं। सामान्य केवली का यह सामर्थ्य नहीं। अतः सामान्य केवली को अर्हन्त कहना उपयुक्त नहीं है।

१. आवश्यक नि. गा. ६०४

२. भ. वृ. १.१

३. वही

४. विशेषावश्यक भाष्य-७६६, भगवती १.१, ११.११, १६.५, २०.८। नाया-१.१६, जम्बू. प्र. ५, ११२।

आगमों में तीर्थकर-अर्थ में प्रयुक्त 'अर्हन्त' पद

(१) अरह—(अर्हन्त)—(अरहा)—

आचाराङ्ग चूला—१५.२६.६ ।

सूयगडाङ्ग—१.२.७६; १.६.२६ ।

ठाणाङ्ग—३.५.१४, ५.२७, ५.३०, ५.३२, ५.३३; ४.१.४३, ६.४७; ५.८४ से ६६, १.५६, १.८६, १.६५; ६.४, ७८ से ८०; ७.७५, ७८; ८.२५, ३७, ४०, ५२, ५३, १.१३; ९.५, ५६, ६२, ६२-१, ६६; १०.६५, ७५ से ७७, ७६, १०६ ।

समवायाङ्ग—८.८; ९.४; १०.४; १५.२; १६.४; १८.२, २०.२, २३, ३, ४; २५.२; ३०.४, ६; ३२.३; ३४.१; ३५.२; ३७.१; ३८.१; ३९.१; ४०.१-३; ४१.१; ४१.१; ४४.२; ४५.५; ४८.२; ५०.१, २; ५१.१; ५४.२, ४; ५५.१, ५६.२, ५७.४, ५६.२, ३; ६०.३; ६२.२; ६३.१; ६६.३; ६८.२, ५, ७; ७०.२, ३; ७१.३; ७५.१ से ३; ८०.१; ८१.२; ८३.२, ४; ८४.२, ४, १६; ८६.१, २; ८९.१, ४; ९०.१ से ३६१.३; ९३.१, २; ९४.२, ९५.१, ४; १००.३, ४ ।

प्रकीर्णक समवाय—१, ४, ७, ९, १०, १४, १५, १६, २१, २५, ३४, ३६, ४०, ४७, ६१ से ६३, ६६, ७८, ८४; २५.१, २, ४, १.४; २५.८.१ से ६ ।

भगवती—१.१६०, २००, २०१, २०८, २०९; २.३८; ७.३, १५७, १७३, १८२; ८.६६; ९.१२२, २३०, २३१; ११.६८, १६२, १६५; १२.२१, १६७; १३.६०; १५.६, ७, ७७, १२६, १३६, १४१, १५७, १७७; १६.६७ से ७१; १८.४१, ४३, ४७, ५०, ५१, ५३; २०.७३ से ७५; २५.२८५ ।

नायाधम्मकहा—१.५.१०, १७, २०, २६, २६ से ३४, ३८ से ४०, ६८; १.८.१८२, १८३, १८५ से १८६, १८२, १८४, १८४/१, १८८, २०१, २०३, २०४, २०८, २१२, २१५ से २१७, २१६, २२१ से २२५, २२७, २२८, २३० से २३५; १.१६.२७१ से २७५, ३१८ से ३२०, ३२२, ३२३; २.१.१६, २०, २३ से २५, २७ से २९; २.१०.६ ।

उवासगवसाङ्ग—७.१०, ११, १८, ४५ ।

अंतगड्वसाङ्ग—१.१८, २१ से २३; ३.१२, १८ से २३, ३० से ३२, ४२, ५०, ५६ से ६६, ६८ से ७७, ८५, ८७, ८८, ९४, ९८ से १०८, ५.६, ८.१२, १४ से १६, २१ से २३, २५ से २७, ३६, ४२ ।

निरयावलिका—३, १,

अनुयोगद्वार सूत्र—१२७ ।

कल्पसूत्र—५, १२०

जम्बूद्वीप प्रकृति—२, ३० ।

(२) अरहन्त—

आचाराङ्ग—१.४.१.१२६

आचाराङ्ग चूला—४.७ ।

सूयगडाङ्ग—१.६.२६; २.१.५७; २.२.१७, ४१ ।

ठाणाङ्ग—२.३०६, ३१२; ३.३३, ७२ से ८६, १०३, ११७, ११६, १२१, १२२; ४.१३६, १३७, ३१५, ३६७, ४३५ से ४४६, ४५१, ५७०; ५.१३३, १३४, १६८; ६.२१, ४३; ८.७७ ।

खण्ड १७, अंक २ (जुलाई-सितम्बर, ६१)

समवायाङ्ग—३१.१.६

प्रकीर्णक समवाय—१२८

भगवती—१.१; २.६८; ३.८७, ९५, ११५, ११६; ७.२०३; ९.१३९, १५७; ११.८५, १७८, १९५; १२.२१, ३०, ३३, १६७; १४.२४, १०९; १५.९८; १८.१४३; २०.६६; २५.५८५; ४१.८४।

नायाधम्मकहा—१.१.२९, २०६; १.८, ७३, १९४, २०३; १.१३.४२; १.१६.२१, २७२, २७४; १.१९.४६; २.१.११।

उवासगदसाङ्ग—१.२०; २.१०; ३.१०; ४.१०; ५.१०; ६.१०; ८.११; ९.१०; १०.१०।

अंतगडदसाङ्ग—६.४१

पण्हावागरण—२.५; ७.१४।

दसाश्रुतस्कंध—६.४।

व्यवहार सूत्र—१, ३७।

औपपातिक सूत्र—२०।

ओघ निर्युक्ति—१।

जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति—२, ३४; ५, ११५।

(३) अरिह—(अरिहंत)—

भगवती—११.१४३, १४८; २५.५५१.१, ५५६ ५८१।

(४) अरिहंत—

भगवती—१.१; ३.१; १८.७; २५.७।

नायाधम्मकहा—१.८.१६।

पन्नवणा—१.१२

औपपातिक—३४.१२।

अणुयोगद्वार—४२, १३१,

जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति—५

दशबंकातिक—९.४.२

कल्पसूत्र—१.१।

आवश्यक—१.२।

(५) अरुह—

विशेषावश्यक भाष्य—२०८५।

(६) अरुहंत—

भगवती—१।

□

दृष्टांत-शतक री जोड़

☐ मुनिश्री जीवोजी

[संवत् १६०३ का युवाचार्य जय का चातुर्मास मुनि श्री हेमराजजी के साथ नाथद्वारा में था। कुल १२ साधु थे। इस चातुर्मास में कार्तिक सुदी १३ के दिन मुनि हेमराजजी ने युवाचार्य जय को तेरापंथ के प्रथम आचार्य भिक्षु के जीवन के ३१२ सरस प्रसंग लिखाए। युवाचार्य जय ने उन्हें संपादित कर ग्रन्थ रूप प्रदान किया। प्रकाशित होने पर विद्वानों ने इसका स्वागत किया।

इन प्रसंगों का ऐतिहासिक और साहित्यिक महत्त्व है। १६ वीं सदी ईसवी के पूर्वार्द्ध में जैन धर्म की स्थिति, साधु श्रावकों की जीवन-दशा और उनके आचार-विचारों की जानकारी तो इनमें है ही; किन्तु इतनी सरसता और रोचकता है कि वे सभी सुपाठ्य और हृदयग्राही बन गए हैं। इनमें न तो दार्शनिक उलझन है और न बनावटी भाषा या अभिव्यक्ति का भंडार। सीधी-सादी सरल भाषा में गहन गुत्थियों को सुलझाया गया है; इसलिये ये सुन्दर विचार, सूक्ति और दृष्टांतों के आधार पर सबके लिए उपयोगी हैं और भाषा की दृष्टि से भी १६वीं सदी पूर्वार्द्ध में राजस्थानी की उल्लेखनीय कृति बन गए हैं।

सन् १९६० में इनका प्रथम प्रकाशन 'भिक्षु दृष्टांत' नाम से हुआ। उस प्रकाशन के साथ श्रीचंद रामपुरिया ने राजस्थानी भाषा में उनकी सूची बनाकर प्रकाशित कर दी। इससे दृष्टांतों के विषय और आचार्य भिक्षु के जीवन-प्रसंगों का सम्यक् बोध हो जाता है।

उक्त पुस्तक का नवीन संस्करण सन् १९८७ में 'जयाचार्य निर्वाण-शताब्दी' के उपलक्ष में जैन विश्व भारती द्वारा प्रकाशित किया गया। उसके आरंभ में युवाचार्यश्री महाप्रज्ञ द्वारा विषय सूची को नया स्वरूप प्रदान किया गया। इससे विषयों का एक अन्य दृष्टि से सम्यक् बोध होता है।

उक्त दोनों सूचियों से पूर्व आचार्यश्री भिक्षु के सभी ३१२ रोचक प्रसंगों की एक सूची—'दृष्टांत शतक री जोड़' नाम से मुनिश्री जीवोजी ने तैयार की थी जो विषय-अनुक्रम से पद्य-बद्ध है। यह सूची गेय होने से स्मर्तव्य भी है।

मुनि जीवोजी अपने युग के एक विशिष्ट साहित्यिक प्रतिभा-सम्पन्न संत थे। उनके द्वारा रची गई वह सूची आज तक अप्रकाशित है। हम उसे यहां प्रकाशित कर रहे हैं।

—संपादक]

ढाल—१

लय :—कर्मां में लिख्यो रे कजोडलो रे.....।

दान रा दृष्टांत

किण हि कह्यौ थारा श्रावक एहवा, दाणादिक किण ही नें घाले नहीं जी रे ।

भिखु दिष्टंत दीधो दश बजाज नो, नव दुकानां में ले गई एक रही जी रे ।

दिष्टंत सुणो रे भिखु स्वाम नां, भिखु कीधी भरत में नामनाजी रे ॥१॥

पजुषणा में दाणा आटो क्यूं न दै, हूं तो हिवड़ां नवोइज ऊठियो जी रे ।

समाइ करावैं थानें थारा सतगुरू, देवां रा त्याग करायां धर्म लूटियो जी रे ॥२॥

पडिमाधारी नें दीधां स्यूं फल नीपजैं, हाथी डूंगर मोटा तो सूजैं नहीं जी रे ।

कीडीकुंधुवापहिली तूं किमदेखसी, एक तो मोटीचरचा पहिली किमलहीजी रे ॥३॥

छै कायां नां जीव खवाया स्यूं हुवैं, पाप कहां भिखु कहां पाने लिखो जी रे ।

पापकहै यो काचोपाणी पावियां. पाणी रो म्हे कदकह्यो थे यूंही वकोजी रे ॥४॥

पाणी छै काया मांहि के बाहिर रह्यो, जी रे प्राणी,

आप री भाषा रा आप ही अजाण छै जी रे ।

पोठघापाने कहै थाराघणीरी रांड हुई जी, विकलानें नहीं भाषारी पिछाणछै जी रे ॥५॥

अनेरां नें दीधां पुण्य इसी कहै, एहवो पुण्य परुप्यो आपे बेहूं करां जी रे ।

रोट्यां रोट्यां थारी दाणा मांहरा, कहो तो तंतू दाणा बेहूं सम धरां जी रे ॥६॥

म्है देवां तो म्हारां महाव्रत नहीं रहै, महाव्रत भागां पाप क्यूं न लागसी जी रे ।

जिण बायरे गयंद सा गुड़ाविया, तिण में पूणी री गिणत कहो रहै किसी जी रे ॥७॥

थारे वाय रो रोग ए ओषधि करो, मिटे सात भोम सूं हेठो पड्यां जी रे ।

थारे ई वाय दीसैं अंगे अति घणी, तूं पडैं तो हूं पिण पडसूं नीवड्यां जी रे ॥८॥

वायेला नें सीरो कर परूसीयां, जहर घाल्यो दीसैं इसी संक वसी जी रे ।

तूं जीमं तो जीमूं नहींतर नेम छै, दोनूई भेला जीम्यां संक रहै किसी जी रे ॥९॥

थाने असाध जाणी दीयां स्यूं थयो, जहर जाणी किण ही नर मिश्री भखी जी रे ।

ते किम मरसी जाणपणो चोखो नहीं, पात्र नें दीधां धर्म सिद्धांते लिखी जी रे ॥१०॥

सुध साधां नें अशुद्ध दीधां स्यूं हुवैं, घर नौ वित्त गमायो व्रत भांजियो जी रे ।

श्रावक नें अशुद्ध दीयां में धर्म कहै, संत विचेइ श्रावक लूठो बाजियो जी रे ॥११॥

दान देवा रा त्याग करावैं पापीया, तिण पापी रे पावां भ्रष्टी लागसी जी रे ।

समाइ करायां त्याग कराया तुज गुरु, तिण नें वांछा तूं पिण भ्रष्टी वागसीजी रे ॥१२॥

रोटी बहिरायां कर धोयां विण नहीं सरै, म्हारा घर की घर वट क्रिया म्हें सजां जी रे ।

थारी खोटी क्रिया थे तजो नहीं, म्हें पिण म्हारी चोखी क्रिया किम तजां जी रे ॥१३॥

धोवण दीघां धोवण मिले नहीं देऊं, भिक्खु भाखें तूं गाय नै स्यूं दीयै जी रे ।
 चारो नीरुं गाय पाछो स्यूं दीयै, दूध दीयै साधू गउ समापियै जी रे ॥१४॥
 सावच्च दान में मौन केई इसी कहै, थारा घणी रो नाम स्यूं पेमो अछै जी रे ।
 क्या नै हुवै पेमो खेमो नेमलो, सागी नाम लियां सूं चुप रही पछै जी रे ॥१५॥
 थारा श्रावक देई ने पाछो खोस लै, झूठ बोलै बादर साह री डीकरी जी रे ।
 अजबूजी रो घाट सहीत घी खोसियो, कीकी वाई सोभजी प्रगट करी जी रे ॥१६॥
 हं भक्तां नै जीमावूं म्हां नै स्यूं हुवै, ज्यूं ज्यूं गुल गालेगा ज्यूं मीठो हुसी जी रे ।
 थारें तीन तीर्थ खांडो लाडू हुवो, चोगणी रो खाधां जीव हुवै खुसी जी रे ॥१७॥
 जिसो देवेगा तिसो मिलेगा परभवे, देवै जिसोइज पामै ए तो छै वृथा जी रे ।
 नारी दीघां नारी पाछी पामसी, कूर्मापुत्र केवली नी सी कथा जी रे ॥१८॥
 रुपियां दीघा धर्म ममता उतरी, इण लेखे तो नारी दीयां में धर्म हुसी जी रे ।
 दूकान मांसू कढायां दुकान ढह पड़ी, संत वच्या भिक्खुजी थया खुसी जी रे ॥१९॥

श्रद्धा रा दृष्टांत

काचो पाणी कसाई नै पावियां, श्रावक नै पायां पिण क्रिया सम गिणी जी रे ।
 तेहिज पाणी वेस्या नै पायो बली, थारी मां नै पायां बिहु सरीखी गिणीजी रे ॥२०॥
 एकेंद्री मार पंचेंद्री पोख्यां धर्म कहै, थारो अंगोछो खोसी ब्राह्मण नै दियो जी रे ।
 टका भरी लटां नै खवाय नै, मरतो पंचेंद्री पंखी वचावी लियो जी रे ॥२१॥
 काचो पाणी पायां मिश्र धर्म कहै, खोस लियां पिण मिश्र धर्म थावसी जी रे ।
 कबूतरा नै मक्की नाख्यां चुग लियां, अहि बंधाय बचायां इमज थावसी जी रे ॥२२॥
 दान दया उठाई झूठ वदै घणा, पोते उठाई तेहनी खबर पड़ै नहीं जी रे ।
 सावच्च दान थाप्यां दया उठ गई, दया उथाप्यां दान उथप गयो सही जी रे ॥२३॥
 नाहर मंजारी स्वान कसाई चोरटा, हिसक सर्व मराय वचाइयै जी रे ।
 इमहिज खाई गाड्यां खाई लूटावियां' इमहिज लाय लगाई नै बुजावियै जी रे ॥२४॥
 साधू आहार करै सो खोटो काम छै, रुघनाथजी रो जीवनजी वकी रह्यो जी रे ।
 खोटोकाम करसो कै आज करे लियो, वारवार इम पूछ्यां चोखोइज कह्यो जी रे ॥२५॥
 पोसा में पडिजेहण कीघां स्यूं हुवै, अछाण्यां पाणी पीवण रा सोगन क्रिया जी रे ।
 छाण छाण नै पीघां स्यूं फल पावसी, तस जीवां नै घेर नै गोता दिया जी रे ॥२६॥
 एक लाडू विष नो बीजो अमृत नो, ठीक पड्यां विन समझणो खाए नहीं जी रे ।
 साधु असाधु धर्म अधर्म ओलख्यां विना, समझणो तो दोयां नै टाले सही जी रे ॥२७॥
 जीव खवायां परिणाम चोखा कहै, कटारी सूं धूसी मारचो नर भणी जी रे ।
 कहै अमारा परिणाम चोखा घणा, पारखा कीधी कटारी तीखी घणी जी रे ॥२८॥

१. पाठान्तर—खणावियां ।

किण ही श्रावक सर्व पाप पच्चक्खिया, तिण नं दीधानं एकंत धर्म भाखियो जी रे ।
 पूछणवालो वचन सुणी विस्मयपड्यो, थारी बोली रो स्वाद थे न चाखियोजी रे ॥२१॥
 सूंस करायां भांगे पातक तेहनों, करावण वालो पाप नो सीरी थयो जी रे ।
 धी वहिरायो साध नं कीडयां मूई, बाण्यो तंतू बेची नफो ले गयो जी रे ॥३०॥
 म्हानं असाध जाणो साधू क्यूं कहो नैतो देतो पेमो खेमो साह कही दिये जी रे ।
 मनमें जाणे यांतो देवाला काढीयो, तोही पिण वेला त्यानं साह कही लियेजी रे ॥३१॥
 सामदासजी रा साधू पादु में पूछियो, बाईस टोला सर्व असाधू किम कहाजी रे ।
 भिक्खुलेखो बतायो त्यांरा लिखत सूं, थारा अवगुण काडै सुण खुशी थया जी रे ॥३२॥
 हिंसा कियां विण धर्म न होवै सर्वथा, कोरा दाण चावै किण ही सेकिया जी रे ।
 शील आदरथो दूजी परण्यो इक जणो, सुत वधाया संतां रे चेला किया जी रे ॥३३॥
 बावीस टोला सर्व असाधू किम हुवै, ठंडी रोटी में केइक जीव सरधता जी रे ।
 केई न सरधै तेहनो झूठ लागियो, झूठा बोला साधू न हुवै सर्वथा जी रे ॥३४॥
 तीन जणा रै संका सावद्यदान री, एक पुण्य एक मिश्र सरधतो जी रे ।
 एक पाप श्रद्धै संका मिट गयां, संयम लेसा किम मिटै ए दरदतो जी रे ॥३५॥
 राजा राणा साहिब पे पुकारिया, ए तो संक न मिटै त्यांरी इण विधै जी रे ।
 साधू पासै आव्यां साध लवे नहीं, विण वतायां मिथ्यात मिटे किण विधै जी रे ॥३६॥
 उपदेश देवै साधूजी तिण अवसरे, दूध पाणी रा जूजूवा निरणा कही धरै जी रे ।
 विण वतायां च्याहं तीर्थ मन तणी, ऊंधी अंवली सरधा संवली कुण करै जी रे ॥३७॥
 मोटा कारण मे मैथुन सेव्या धर्म कहै, थारी बैन बेटयां पिण हाजर करी जी रे ।
 म्हे केम करसां म्हे तो मोटाकुल मझै, बीजारी बेन बेटयां किम उगलपडीजी रे ॥३८॥
 थारी श्रद्धा में परपंच दीसै अति घणो, आंख में पील्यो जगत पीलो दाखियै जी रे ।
 ताव वाला नं सीरो लागै जहर सो, निरोग सरीरी अमृत गटका चाखियै जी रे ॥३९॥
 क्षांतिविजय रघनाथजी नं जीतिया, भिक्षु च्यार निखेवां री चरचा करी जी रे ।
 धर्म रै हेते जीव हण्यां थी मंद बुद्धि, आचारांग वतायो मुख आगल धरी जी रे ॥४०॥
 साधू थाको घाल गाड़ी मे ल्याविया, धर्म हीसी तो गधे बेसाण्यांइ थावसी जी रे ।
 असंजती नं त्याग करावो देण का, वचन सरध्यां कं म्हानं भांड करावसीजी रे ॥४१॥
 भेषधारी एक आयो भिक्खु देखवा, चरचा पूछो-पूछो कही रह्यो जी रे ।
 तूं सन्नी के असन्नी न्याय पूछियां, छाती मांही मूकी री रूठो देई गयो जी रे ॥४२॥
 म्हारे गुरां एक चरचा पूछी तो भणी, तेहनो जाब थानें तो आयो नहीं जी रे ।
 भिक्खु भाखै उवाहीज पाछी पूछल्यो, हूं स्यूं पूछूं पोता-चेलो छूं सही जी रे ॥४३॥
 श्रावक री अत्रत सींच्यां व्रत वधै, इण लेखे तो उपवास करायां व्रत बलै जी रे ।
 सह टालोकर भेला मिल्यां गण हुवै, इसी बुध हुवै तो गण स्यूं क्यूं टलै जी रे ॥४४॥
 पाली में बावेचा विप्र लगाविया, भिक्खु परचाया फिर नं पाछ आविया जी रे ।
 पूजजी हुकम कीधो पांच रुपयां तणो, वचन सुण नं बावेचा सीदाविया जी रे ॥४५॥

सोभाचन्द्र सेवग नें सीखावियो, भीखनजी रा दूसरिया जोड़ी ल्याइजै जी रे ।
 दान देई नै राजी करस्यां तो भणी, म्हे कहिवाड़ां जठे ल्याव सुणावजै जी रे ॥४६॥
 कारी कराई वेद बधाई मांगियां, कहै पंचां नें पूछी पछै बधाई आपस्यूं जी रे ।
 साधू असाधू परख लियां कहै गुरु करो, पछै करे स्यूं पूछ त्रिय नां बाप सूं जी रे ॥४७॥
 पंचलड़ो जीव गोता खासी इम कही, च्यार आत्मा जीव थे कहो चोलड़ो जी रे ।
 एकलड़ अधिकी म्हारी सदा जाणज्यो, सिद्धंत चरचा करियैज्यूं वेगातिरोजी रे ॥४८॥
 अमरसिधजीरो तिलोकजी कहै अन्न पुण्ये, हूंतो कहुंछूं सिद्धंतमें लिखी जिसीजी रे ।
 रत्नजीजती बोल्यो म्है ढीलापड़्या, तो पिण इम नहीं बोलांथां आ कही किसीजी रे ॥४९॥
 हूं तो पात्रा हींगलू सूं रंगू नहीं, जोई जोई नें राता केलू लावियो जी रे ।
 भिक्खु भाखै हींगलू हिरदे वस रह्यो, खोड मिटाई हींगलू घलावियो जी रे ॥५०॥
 समदृष्टि नें पाप न लागै कै कहै, माथे पोत्यो बांधी मथुन सेव ही जी रे ।
 करड़ा-करड़ा दिष्टंत नहीं दीजियै, गंभीर रोग फूजाल्यां जाये नहीं जी रे ॥५१॥
 मांहो मांहे असाध कहै ते दोनूं सत्य वदै, म्हारै भावे तो दोनूं असाध छै सही जी रे ।
 इक भागां सूं पांचूई महाव्रत नहीं रहै, भिक्खु पांच रोटी री कथा कही जी रे ॥५२॥
 साध साध री व्यावच करै इण विधै, समाइ पोषा में श्रावक श्रावक री करै जी रे ।
 साधू अणसणमें वडसाधूरा पग बंदै, तिम श्रावक अणसणमें ज्येष्ठपावां क्यूं न पड़ैजी रे ॥

दया रां दृष्टांत

पासी न काढै थारां श्रावक पापिया, कोइक काढै कोइ न काढै कुण सिरै जी रे ।
 थूनं थारा गुरु जाता पंथ में, किण ही पासी खाधी काढी कुण धरे जी रे ॥५४॥
 बकरा नें वचायां ऊ कूपल खावसी, तेहनों पाप सगलोई तोनं लागसी जी रे ।
 दया पलावी पोसा करावो तेहनें, आगला दिन रो धर्म किम आवसी जी रे ॥५५॥
 बकरा नें वचाया मोनें स्यूं थयो, भिक्खु दिय आंगुलियां ऊंची करी जी रे ।
 एक तो ऋण उतारै बीजो ऋण करै, मायत किसा पुत्र नें वरजै लड़ी जी रे ॥५६॥
 टको देई नै साप छोड़ायां स्यूं थयो, टको देई नै घणा नें बंधावियां जी रे ।
 छोड़ायो ते साप कहो जी किहां धस्यो, बिल में पेसी उंदरा मरानियां जी रे ॥५७॥
 उंदरा तो बिल में कोई नहीं हुंता, किणहीक गोली छोड़ी काग उडी गयो जी रे ।
 वायस बंच्यो ते तो तेहनो आउ घणो, गोली बावण बालो तो हिंसक थयो जी रे ॥५८॥
 जीव वचावो वचावो करी रह्या, वचावणा रह्या ते छोडो मारणा जी रे ।
 चोरचांकरकर चोक्यां सांगै रातरी, चोरचांइ छोड लेसां थाराउवारणा वारणाजी रे ॥५९॥
 किवांड खोल वहिरायां तो वहिरै नही, पोतेइ जड़ उघाड़ै अंधारी रात में जी रे ।
 भंगी री भींटी रोटी तो खावै नहीं, कीधी खावै त्यां सरीखी न्यात में जी रे ॥६०॥
 संसारी उपगार दूजो मोख रो, सर्प खाधो झाड़ो देइ बचावियो जी रे ।
 नारी बोली नाह दियो भा डीकरो, संतां सागारी संथारो उचरावियो जी रे ॥६१॥

वालो दूखे ओषध कर साजो कियो, खेत में जइ नै नीलो खेत वाढ़ियो जी रे ।
 एक वचायो इग्यारी लीधी चोरटे, लोकां फिट-फिट कर नै पुर सूं काढियो जी रे ॥६२॥
 सेठ नै देखी तसकर ध्यायो पकड़वा, ठोकर लागी दोड़तो हेठो पड़यो जी रे ।
 किण ही तिण नें उठाई बेठो कियो, अमल उदक पाई नें चंगो करयो जी रे ॥६३॥
 बिजयसिंघजी पड़हो फेरायो सहर में, दीवा ढांको करो बूढां री चाकरी जी रे ।
 लिछमणजी नै कृष्ण जी नी गतिकहो, चरचा करसां सूत्र मुंह आगल धरी जी रे ॥६४॥
 सामग्री में लाडू दिरावै तप तप्यां, पेटभरा इम जाणै आसी पातरै जी रे ।
 नारी कहै तूं म्हारी हाटे जाय तो, लोटो देता जाइज्यो ए सानी करै जी रे ॥६५॥
 भिक्खु भणै ए सानी सावच आमना, घी चोरूं चोरूं नी कथा कही जी रे ।
 लाय में बलती गायां बाहिर काढियै, चूण लूवारचां जापायती काढै नही जी रे ॥६६॥
 केइ कहै गाडा नीचे टाबरयो, आतो देखी पापी उठावै नही जी रे ।
 कीड़ा धी कुत्ती लटां गजायां कातरा, इण लेखे तो ए पिण उठावणा सही जी रे ॥६७॥
 पाछो मेलै पंखी माला थी जइ पड़्यो, तपस्वी श्रावक समाइ में हेठो पड़ै जी रे ।
 तांगी मृगी नींद झोलादिक व्याविया, तिण नें उठाई पाछो बेठो क्यूं नही करै जी रे ॥६८॥

अनुकंपा रा दृष्टांत

किण अणुकंपाआणी सेर चिणादिया, किणही पीसदियानै किणही पोयदिया जी रे ।
 जलपावो रे जलपावो कहतो फिरै, ए सहं पाप पैदास पहिलीकिण कियाजी रे ॥६९॥
 अणुकंपा आण मूला खवायां स्यूं हुवै, म्हे तो कहां छां मूला मांहि पाप छै जी रे ।
 मूला में तो पुण्य पाप बेहुं अछै, मूला खवायां सरधण री स्यूं थाप छै जी रे ॥७०॥

आज्ञा रा दृष्टांत

आज्ञा बाहिर धर्म कई इसी कहै तिण नें पाछो पूछी पेंतो लीजियै जी रे ।
 थारे आ पाग कठा सूं आई कुण रंगी, किण दिवाई पक्की पूछा कीजियै जी रे ॥७१॥
 नदी उतरियां धर्म तो फूल चढावियां, धर्म कहीजै प्रभु री भक्ति भाल नें जी रे ।
 म्हे तो आली टालां सूकी उतरां, थे तो हरियां चढावो सूका टाल नै जी रे ॥७२॥

आचार रा दृष्टांत

अबारूं पंचमो आरो पूरो नहीं पलै, चोथा आरा में तेलो हुंतो केहवो जी रे ।
 चोको कर जीमाड़ै एक-एक नें, जीमण करनं भूडो दीठो जेहवो जी रे ॥७३॥
 आपां विचे तो चोखा केई इसी कहै, तेलो कीधो आधी खाय नै जी रे ।
 तीन एकासणा कीधा छै छै खाय नै, कुण सिरै छै कहि दै नाम वताय नै जी रे ॥७४॥
 धोवण पाणी पीवै कष्ट करै घणा, लाखां रो देवालो किण ही काढियो जी रे ।
 टको देई नै तेल गुलादिक लावियो, ते किम मिटसी मोटो कलंक चाढियो जी रे ॥७५॥

केवल पामै बेघड़ी सुध संजमधरघो, वीरजी विविध तपसू तनक्यू गलियोजी रे ।
 सातसौ केवली सीङ्ग्या बीजायूही रङ्गा, प्रभवादिक पिण संयम शुद्ध न पालियोजी रे ॥
 थानक भायां निमित्ते निपजाव्यो कहै, जमांइ कद कह्यो सीरो रांधज्यो जी रे ।
 सोगन कीधां सासू सीरो नहीं करे, डावडै कद कह्यो सगपण सांधज्यो जी रे ॥७७॥
 जैमलजी रा टोला मां सू नीकल्या, संवत अठारै बावनें सोले जणा जी रे ।
 थानक छोडघो देखांदेख पालखो बणायो, ते देखी लोक डरघा घणा जी रे ॥७८॥
 तीन तूबड़ा अधिका आज परठे दिया, सील आदर नै छठे महीने कही इसी जी रे ।
 एक त्रिया मै आज तजी इम क्यूं कह्यो, ढीला पड़्या सेंठा होता होवसी जी रे ॥७९॥
 खत लिखे ते देवाल्या साहुकार के, एक सरीखा लिख्या ज्यूं चालै नहीं जी रे ।
 सूत्र सहुनां सरीखा मुद्ध पालै नहीं, मोटा घर नों रंडापो ए छै सही जी रे ॥८०॥
 साधू कुण असाधू कुण बताय दो, नागा किता ढाक्यां किता नगर में जी रे ।
 लखण बताऊं नेणांकारी हूं करूं, परख लीजै निरख लीजै निजर में जी रे ॥८१॥
 गुलाब ऋषि करूड तपस्वी वंदियै, आटो पीवै बेलै-बेलै तप करै जी रे ।
 एक चीलपटो ओढे सीत सहै घणो, म्हारो नील्यो बेल सूका तृण चरै जी रे ॥८२॥
 इकावन रुमिया थानक निमित्ते उदक्या, भिक्खु भाखै पहिली अंकुरा ऊठियै जी रे ।
 जन्मपत्री वरसी फल पछै हुवै, छै काया रा प्राण पछै लूटियै जी रे ॥८३॥
 देणो न देसी तो देवाल्यो वाजसी, साहुकार इस सीखवै निज नंदन भणी जी रे ।
 सुण-सुण कूढै पाड़ोसी देवालियो, सीख न दै ओ छाती बालै अम तणी जी रे ॥८४॥
 शुद्ध न पाल्यां खोटा नाणां सारिखा, तांबो देखी वाण्यो ते वांदी लियै जी रे ।
 रूपो देखी नै विशेष वांदी लियै, खोटो नाणो ते देखै ते टाली दियै जी रे ॥८५॥
 असल मुनि ते तंतू न राखै सर्वथा, परीषह संकट जीतै साधू सह लज्या जी रे ।
 आहार करै ते पहले परीषह भांगिया, म्हे तो श्वेताम्बर शास्त्र देखी घर तज्या जी रे ॥८६॥
 छते मार्ग नीला पर नहीं चालियै, भेषधारी नै भीखूजी कही इसी जी रे ।
 म्हारो नाम लीधो तो हूं पुर मझै, कहि सूं भीखनजी नीला में गया धसी जी रे ॥८७॥

विविध प्रकार नां दृष्टांत

कुण ताणै इण नरक में जातां जीव नें, पइसो जल पर धरियां हेठो किम पडै जी रे ।
 ते हीज तांबा नै कूट नै कीधी बाटकी, अधर रहै जल पर जंतू इम तिरै जी रे ॥८८॥
 खोडो खोल्यो रोयो खांत नीकल्या, लोकां पूछ्यो मांहे थे स्यूं घालियो जी रे ।
 मांहे तो म्हे एहीज घाल्यो स्यूं करूं, घाल्यो नीकलसी लोकां रो तो पालियो जी रे ॥८९॥
 कोयलां रो राब काला बासण में, पुरसणवाला जीमणवाला बिहु अंधा जी रे ।
 अमावस नीं रात कालो टालज्यो, हिवे स्यूं टालै एहवा जैन रा जिंदा जी रे ॥९०॥
 वखाण में वावेचा ताना करै घणा, जिंनंद के जिंनंद का चेला ज्यां कने जी रे ।
 गावै वजावै नाचै ज्यूं एह जाणज्यो, संतां आगे नाचै क्यूं करो मने जी रे ॥९१॥

जगूजी गांधी समझ्यां चिंता बहु थई, खेतसीजी लूणावत चित्त वेदी घणी जी रे ।
परदेश नी सुणावणी आयां सह दुखी, लांबी कांचली पहरणवाली तो इक जणी जी रे ॥६२॥
इण सू चरचा मती करो यो मूरखो, बालक मूछ्या खांचै निज पिता तणी जी रे ।
समझ पायां जनक रां जतन करै घणा, सम्यक्त्व पायां सेवा यो करसी घणी जी रे ॥६३॥
वेस्या सती सू बोली आपें बेहुं जणी, भेली वेसी गीत गावां कुण सिरै जी रे ।
साखी कुण ए भडवा मांहरां चौकसी, खंडी कहै करो चरचा साख जती भरे जी रे ॥६४॥
हेम पूछ्यो कहो जी थे किसा टोला तणां, थारां गुरां नों माथो मूड्यो तेहना जी रे ।
म्हारां गुरां रो माथो नायां मूडियो, जात हीण थे तो दीसो जेहना जी रे ॥६५॥
अखैरामजी स्वामी आतम वस करी, सतजुगीजी स्वामी इसी उचरी जी रे ।
भिवखु भाखै पूरी पेठ नहीं जमी, सुण नै चाल्या भिवखु नै साचा करी जी रे ॥६६॥
पूरो आहार न मिलै एहवा गाम में, सत्यां नें चोमासो केम भलावि यै जी रे ।
म्हे तो पंथ वतायो त्यां टाली दियो, स्यूं दंड देस्यो गाम ही दंड दिरावियै जी रे ॥६७॥
समुदाणी गोचरी करसूं हेम ऋषि कहै, मोहनगढ़ सू अल्प आहार ल्यावियो जी रे ।
अल्प धोवण ल्यायां बायां बहु लड़ी, सह विरतंत भिवखु नै सुणावियो जी रे ॥६८॥
कुशील लेखो वतायो हेम ऋषि भणी, छै महीना रो कही नै सब छोडावियो जी रे ।
आखे चोमासे पांतरे भावना भावियां, पांच रूपीया रा घी रो न्याय वतावियो जी रे ॥६९॥
छै रे वेरी देरे उधारो जगत ने, छैरे वेरी काढ कोई ना खूचणा जी रे ।
अथवा करड़ी चरचां पूछ्यां कलहो बधै, हेत करै तो गमता प्रश्न पूछणाजी रे ॥१००॥
आप उद्यम करो तो समझै बहुजणा, कारीगर थोड़ा मकराणे पत्थर घणा जी रे ।
भगोती बिचे धम्मो मंगल मांगियो, सुकन ले ज्यूं जाणो खर तीतर तणा जी रे ॥१०१॥
भिवखु श्रद्धा लीधी तेहनो घणी मुओ, थे क्यूं पहिर्यो वेस ए विधवा तणो जी रे ।
बीलाड़ा में द्रव्य गुरु विप्र लगाविया, रामचंदजी कटारीयै कष्ट कियो घणो जी रे ॥१०२॥
किण ही कह्यो थे गाथा जोड़ो किण विधै, तुरंत जोड़ी शिष्य ने काम भलावियो जी रे ।
रोग आयां हाय-हाय क्यूं करै, खोस लियां पिण सिर नो ऋण मिटावियो जी रे ॥१०३॥
तूं ढांढो तो ज्ञान ते चारो ह्वै, समी दरसाय श्रावक नै खुसी कियो जी रे ।
ए तो बहु बोलै नै आपलवो नहीं, यां तो घर कृष्णार पुण्य कर दियो जी रे ॥१०४॥
भिवखु निकलतां द्रव्य गुरु आंसु नाखिया, थां विचै तो म्हारी मां रोई घणी जी रे ।
गुलजी खेती कीधी कंटाल्या मझै, दश रुपिया लागा उपत दश तणी जी रे ॥१०५॥
सात सात देई नै एकेक गिणूं, सात सुपारी देई नै एक सातो गिणो जी रे ।
स्वामीजी घर में मंत्री संग दिशां गयां, मंत्री छैली लोटा नै मांजै घणो जी रे ॥१०६॥
भिवखनजी थे लोटो मांजो क्यूं नहीं, हूं तो लोटा मांहे भाडै नहीं गयो जी रे ।
थारो मूहडो दीठां जाए नारकी, मोख देवलोक मोटो लाभ म्है लियो जी रे ॥१०७॥

सिद्धांत में बातां जे कुण देखी अछै, कुल गुरु पोथा वांचै ये किम सरधिया जी रे ।
 साधू सावद्य त्याग्यो असाता क्या हुवै, सिर पर पत्थर फेंकी ने सोगन किया जी रे ॥१०८॥
 घर को धणी अनुक्रमें लूणै खेत नें, चोर उपरवाड़ा कर लाय लगावही जी रे ।
 खावा नें वणाई ए सर्व नीलोतरी, नाहर नो भख तोनं वणायो छै सही जी रे ॥१०९॥
 भिक्खनजी नै कटारी सुं धूस सुं, तेहनो सील भागो तें प्रगट कियो जी रे ।
 थारी सम्यक्त्व पाछी उरी ल्यो इम कह्यां, किम मिटै गाडा में जे सांचो दियो जी रे ॥११०॥
 कयरे मग्ग मक्खाया नो अर्थ पूछियो, व्याकर्णी किंसुं जाणै भाषा भागधी जी रे ।
 कयर मूंग मत खाई जै इण में यूं कह्यो, मकरा करतो बोलै कुबुधी जी रे ॥१११॥
 राते बखाण देतां रात आई घणी, दुख री रात घणी लखावै छै सही जी रे ।
 नौंद लेवै ते पूछ्यां सांच बोले नहीं, आसाजी जीवो छो के जीवो नहीं जी रे ॥११२॥
 वैराग्य चाढै पोते वैरागी थयो, कसूबो गलीयां पछे रंग चढावही जी रे ।
 सालिभद्र नो वखाण सुस्वादो घणो, बात न प्यारी वतवो प्यारो छै सही जी रे ॥११३॥
 इण बात रो तार काढो किण ही कह्यो, भिक्खु भाखै डांडा तुझ सूझै नहीं जी रे ।
 भिक्खनजी तो तोनं कहिता सूबडी, जा रे पेजार्या उवां तो दीटी ज्युं कही जी रे ॥११४॥
 ताकडी रे तीन बेज तिण रे बीचलो, सुध न हुवां अंतरकाणी ताकडी जी रे ।
 नगजीस्वामीरो तेज घणो किणही कह्यो, भूसतीकुतीनं फैंक नें कीधी पाधरीजी रे ॥११५॥
 नेणसिधजी रो जमाई न समझै भोलियो, सांच झूठरी समझ उण नें नहीं पडै जी रे ।
 दादूपंथी कहै थे कह्यो थारा श्रावकां नें, ज्युं ए मोनं जीमाडी तृप्त करै जी रे ॥११६॥
 श्रद्धा आचार की ढालां सुण कूढै घणा, न्याय निरणो छण न करै तेहनी जी रे ।
 झालर बाज्यां गंडक मिल भूसै घणा ए, यूं न जाणै ए झालर बाजै केहनी जी रे ॥११७॥
 भिक्खनजी थे जावो जिण वसती मझै, घसको पडै पाखंडी धूजै घणा जी रे ।
 गारडू आव्यां डाकण डरै तेहनां, सगा संबंधी परियण धूजै तेह तणा जी रे ॥११८॥
 बेलो धार्यो लापसी री मन तेवडी, पारणा रे दिन तेहिज घर धारी लियो जी रे ।
 भिक्खु भाखै बेलो स्यां काजे कियो, सांच बोलावी बीजं दिन इम बंध कियो जी रे ॥११९॥
 गृहस्थ खूचणो काढ्यां दंड तेला तणो, भारीमाल नें भिक्खुजी कही इसी जी रे ।
 झूठो काढ्यां आगला कर्म उदँ हुवा, इस उपयोग बधाई कीघा महाऋषि जी रे ॥१२०॥
 आपरी बुध अपार राज-वरगीयां, समझावी नै सांचे मार्ग आणियै जी रे ।
 खांड नो खेरो कीडी चालै हाथियां, बड़ पीपल ना डालसूडै ताणियै जी रे ॥१२१॥
 विविध दिष्टंत विविध भिक्खु वायका, किंचित् किंचित् केइक जोड्या छण नै जी रे ।
 संवत् उगणीसै इकीसा री भाद्रवी, सुध इग्यारस इधिको उज्जम आण नै जी रे ॥१२२॥
 अधिको ओछो विरुध बच वदियो हुवै, मिच्छामि दुक्कडं होइजो म्हारे सर्वथा जी रे ।
 दिष्टांत दे दे भिक्खु धर्म दिपावीयो, सांच जाणीज्यो कोइ म जाणीज्यो वृथा जी रे ॥१२३॥
 जय आचार्य जोधाणे विराजतां, मुज दीख्या गुरु लाडणू में राजता जी रे ।
 जुग बंधव नी जुगती जोड़ी मिल रही, च्यारुंड तीर्थ सखरी सेवा साजता जी रे ॥१२४॥

विस्तार सहित एक एक दिष्टंत वागर्यो, ग्रन्थ घणो रस जय कृत दीठां पावसी जी रे ।
अक्षर अल्प चोटी बंध ए पद रच्या, वक्ता न्याय व्रतायां स्वाद आवसी जी रे ॥१२५॥

धिन-धिन हो भिक्खु थारी बुद्ध भणी, संकट परीषह सही सही धर्म दीपावियो जी रे ।
दिष्टंत शतक जीव ऋषि ए जोड़ियो, पोता चले कवित कला रस पावियो जी रे ॥१२६॥

दिष्टंत सुणो रे भिक्खु स्वाम नां, भिक्खु कीधी भरत में नामना जी रे ।

दिष्टंत जोड़्यां छै गाम गाम ना जी रे, जीव ऋषि इं किंचित कीधी आमना जी रे ॥१२७॥

दिष्टंत सुणो रे भिक्खु स्वाम ना



**जैन विश्व भारती संस्थान, मान्य विश्वविद्यालय,
लाडनू ।**

छात्रवृत्ति अनुदान परियोजना

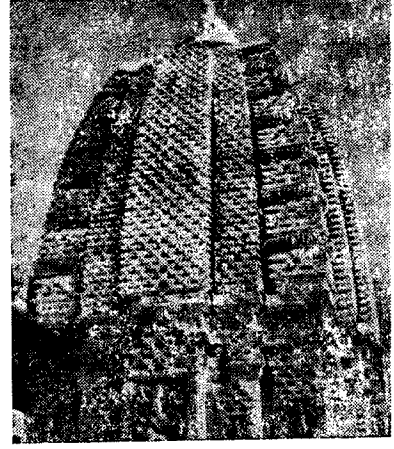
जैन विश्व भारती संस्थान का सत्र प्रारम्भ हो गया है और स्नातकोत्तर स्तर पर निम्न विषयों का अध्यापन हो रहा है ।

- (१) जैनेलोजी (जैन विद्या) एवं तुलनात्मक धर्म-दर्शन ।
- (२) प्राकृत भाषा साहित्य एवं भाषा-शास्त्र ।
- (३) अहिंसा का अर्थशास्त्र और अहिंसक समाज-रचना ।
- (४) व्यक्तित्व विकास का मनोविज्ञान और जीवन-विज्ञान ।

अध्यापन-कार्य के अतिरिक्त उक्त विषयों पर शोध-कार्य भी हो रहा है । संस्थान की ओर से छात्रों तथा शोधार्थियों को छात्रवृत्ति देने का प्रावधान है । छात्रों को ५००/- रुपये मासिक तथा शोधार्थियों को २०००/- रुपये देने हेतु जो भी व्यक्ति सहयोग करना चाहें वे एक वर्ष की राशि संस्थान के कार्यालय में जमा करवाने की कृपा करें । संस्थान इस राशि का उपयोग करते समय व्यक्ति विशेष, फर्म या ट्रस्ट, जिनके द्वारा राशि प्राप्त होगी, उसका नामोल्लेख करेगा । इस प्रारम्भिक वर्ष में समाज द्वारा उदारता से सहयोग प्राप्त होने की अभीप्सा के साथ सादर प्रार्थना है ।

कुलसचिव

पुस्तक समीक्षा



१. मरुधरा का वैभव : डीडवाना
(नगर का परिचय मूलक शोध-संदर्भ ग्रंथ)
प्रथम संस्करण-१९६१ । मूल्य-१००)
रूपये । पृष्ठ संख्या-२१२ । संपादक—डॉ०
गोपीकृष्ण राठी 'मधुकर' । प्रकाशक-
संस्कृति संगम, डीडवाना (राज०)।

१२ अक्टूबर सन् १९७३ को आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने "मरुधरा का वैभव : डीडवाना" के प्रकाशित होने की सूचना पर प्रसन्नता व्यक्त की थी और 'ग्रंथ से अनेक महत्त्वपूर्ण विषयों पर प्रकाश पड़ेगा'—ऐसा कहकर अपनी शुभकामनाएं की थीं । भगवत्कृपा से वे शुभकामनाएं फलीभूत हुईं और दो दशक बाद यह सद्ग्रन्थ प्रकाश में आया ।

पिछले दिनों 'फतहपुर परिचय', 'बिसाऊ-दिग्दर्शन', सिमला (खेतड़ी), चिड़ावा, मण्डावा आदि अनेकों नगरों का परिचय लिखा गया और प्रकाशित किया गया ।

चूरू का इतिहास इतिहास-संशोधक श्री गोविन्द अग्रवाल ने अपने शोधपूर्ण इतिहास में दिया । मानो यह आत्मावलोकन की एक शृंखला बनी है । इस शृंखला में डीडवाना पर प्रकाशित प्रस्तुत ग्रंथ का विशेष महत्त्व है ।

१३वीं शती (विक्रमी) की कृति—'सकलतीर्थ स्तोत्र' में सिद्धसेन सूरि लिखते हैं :—

खंडिल डिडूवाणई नराण हरसउइ खट्टऊ बेसे ।

नागउर मुविदंतिसु संभरि वेंसमि षडेमि—

—कि खंडिल्ल, डिडूवाणक, नाराण, हरसौर, खाटू, नागौर आदि सांभर (शाकम्भरी) देश में तीर्थ हैं । सोमप्रभसूरि के 'कुमारपाल प्रतिबोध' ग्रन्थ में पूर्ण-तल्ल गच्छ आचार्य श्री दत्तसूरि के बागड़-घ्रमण का वृत्तान्त है । वृत्तान्त अनुसार रयणपुर के राजा यशोभद्र ने डिडूवाण में दीक्षा ली और अपने बहुमूल्य मुक्ताहार को विक्रय कर उससे जिनालय का निर्माण किया । यह जिनालय डिडूवाणा में निर्मित हुआ होगा, किन्तु खंडिल्ल (लाडनू) में एक मंदिर माथुर संघ के आचार्य श्री गुणकीर्त्ति भक्त साहु देल्ह सुत श्रेष्ठी बहुदेव और सर्वदेव (खांडिल्लपालवंशीय)—दो भाइयों ने सं० ११३६ में बनवाया था । उस मंदिर में गुण कीर्त्तिसूरि शिष्य अनन्तकीर्त्ति के शिष्य

खण्ड १७, अंक २ (जुलाई-सितम्बर, ६१)

६६

पं० यशःकीर्ति की पादुका-युगल स्थापित करने का सं० १२०१ ज्येष्ठ सुदि १० शनिवार को लिखा लेख उपलब्ध है। अतः यह संभावना सही प्रतीत होती है कि राजा यशोभद्र श्री दत्तसूरि शिष्य होने के साथ-साथ माथुर संघ के आचार्य अनन्तकीर्ति का भी शिष्य रहा होगा और खंडिल्ल (लाडनू) और डिडूवाणक (डीडवाणा) उस समय जैन तीर्थ रूप में सर्वमान्य रहे होंगे।

दुर्भाग्य से डीडवाणा की पुरातत्त्व-संपदा का कोई अध्ययन नहीं हुआ। प्रस्तुत ग्रंथ में भी जहां आधे से अधिक व्यक्ति-चित्र छापे गए हैं वहां उपलब्ध शिलालेख आदि में केवल दो अस्पष्ट (त्रुटित) लेखों के ब्लॉक दिए हैं। (एक ब्लॉक में—“जयूवर गते। तस्यै—/—सुय हत-सह—/ सिंह—/गत—/हुत ” आदि अस्पष्ट अक्षर दीख पड़ते हैं) जबकि इसी उपलब्ध लेखादि के पुरातत्त्व से डीडवाणा का इतिवृत्त खोजा जा सकता है।

१६वीं-२०वीं सदी में डीडवाना में बहुमुखी प्रगति हुई। उसका एक चित्र प्रस्तुत ग्रंथ में स्पष्ट दीख पड़ता है। संपादक-मण्डल के सदस्यों ने वस्तुतः इस ग्रंथ को ‘मरुधरा का वैभव’—रूप में प्रस्तुत करने का सद्बुद्धयोग किया है। ‘संस्कृति-संगम, डीडवाना’ इस ग्रंथ के प्रकाशन से पूर्व भी कई प्रकाशन कर चुका है जो चर्चित और प्रशंसित हुए हैं।

ग्रंथ की प्रस्तुति और संपादन में काफी मेहनत की गई है। ग्रन्थालय और शिक्षालयों के लिए यह शोध-संदर्भ का खजाना सिद्ध होगा—इसमें कोई संदेह नहीं। आशा है, संस्कृति-संगम अपनी यात्रा जारी रखेगा।

—परमेश्वर सोलंकी

२. समयसार : निश्चय और व्यवहार की यात्रा—प्रथम संस्करण : १९६१, मूल्य-२५/- रुपये, पृष्ठ संख्या-१६५। लेखक—युवाचार्य महाप्रज्ञ। प्रकाशक—जैन विश्व भास्ती, लाडनू-३४१३०६ (राजस्थान)।

आचार्य कुन्दकुन्द के द्वारा शौरसेनी प्राकृत में समयसार, प्रवचनसार, नियमसार, पञ्चास्तिकाय और अनेक पांडुओं (प्राभृतों) की रचना की गयी जो सौभाग्यवश संपादित होकर अनेक टीकाओं के साथ प्रकाशित भी हो चुके हैं।

प्रस्तुत पुस्तक आदि से अन्त तक अत्यन्त सरल एवं परिष्कृत हिन्दी में आधुनिक पद्धति से लिखी गयी है। सभी वर्गों के पाठक इसे आसानी से समझ सकेंगे। इस पुस्तक की प्रस्तुति में लिखा है—‘समयसार अध्यात्म का प्रतिनिधि ग्रन्थ है। विश्व साहित्य के अध्यात्म विषयक जो ग्रन्थ हैं, उनमें यह प्रथम पंक्ति के ग्रंथों में से एक है।’

इस महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ में समयसार की समस्त गाथाओं की व्याख्या नहीं की गयी है, किन्तु हृदयग्राह्य कुछ चुनी हुई गाथाओं का मर्म उद्घाटित किया गया है, जो अक्षरशः पठनीय है। कुछ वर्ष पूर्व दि० जैन समाज में आचार्य कुन्दकुन्द के निश्चयनय को लेकर दो पार्टियां तैयार हो गयी थीं। एक का कहना था कि निश्चय ही मान्य है, व्यवहारनय मान्य नहीं है। दूसरी पार्टी का कहना था कि निश्चयनय के साथ व्यवहारनय को भी मानना चाहिए; क्योंकि निरपेक्षनय मिथ्या माने गए हैं। इस विषय को लक्ष्य बनाकर

प्रस्तुत कृति के प्रारम्भ में सुन्दर समाधान दिया है—‘बहुत विद्वानों ने आचार्य कुन्दकुन्द को निश्चयनय की सीमा में आबद्ध करने का प्रयत्न किया है। उनका दृष्टिकोण संकुचित है, यह कहना मैं नहीं चाहता, किन्तु अनेकान्त की सीमा का अतिक्रमण कर रहा है, यह कहने में मुझे कोई कठिनाई नहीं होती। आचार्य कुन्दकुन्द ने निश्चय और व्यवहार दोनों नयों को उनकी अपनी-अपनी सीमा में अवकाश दिया है। केवल सूक्ष्म पर्याय ही सत्य नहीं है, स्थूल पर्याय भी सत्य है। हमारा व्यवहार स्थूल पर्यायों के आधार पर आकलित होता है। क्या सत्य के एक पहलू को नकार कर असत्य को निमन्त्रण नहीं दिया जा रहा है?’

इसी प्रकार विवादस्थ “पुण्य” के विषय में भी लेखक ने अच्छा प्रकाश डाला है। वस्तुतः यह कृति विवादग्रस्त विषयों पर हृदयग्राह्य विवेचन करने वाली अपने ढंग की पहली कृति है।

पुस्तक का मुख पृष्ठ, कागज, छपाई-सफाई और पक्की जिल्द आदि सभी नयनाभिराम एवं हृदयहारी हैं। ऐसे सुन्दर प्रकाशन के लिए लेखक, सम्पादक एवं प्रकाशक तीनों ही संश्लाघ्य हैं।

—अमृतलाल शास्त्री

३. नवतत्त्व : आधुनिक सन्दर्भ—प्रथम संस्करण, १९६१, मूल्य-५/- रु०, पृष्ठ संख्या-५७। लेखक—युवाचार्य महाप्रज्ञ। प्रकाशक—जैन विश्व भारती, लाडू-३४१३०६ (राजस्थान)।

जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष—इन नव तत्त्वों के नाम स्वाध्याय करने वाले जैन-जैनेतर सभी मनीषी मानते हैं। शताधिक बृहत्काय प्राकृत-संस्कृत ग्रन्थों में इनका विस्तृत गहन विवेचन किया गया है। पर आधुनिक व्यस्त युग के जिज्ञासु पाठक थोड़े समय में उस (गहन विवेचन) से लाभ नहीं उठा पाते। ऐसे पाठक केवल उसके नवनीत को ग्रहण करना चाहते हैं। संभवतः इसीलिये प्रस्तुत पुस्तक की रचना की गई है। कलेवर में छोटी है पर नवतत्त्वों का विवेचन प्रसङ्गत: आइंस्टीन, कांट, डेकार्ड, फ्रायड एवं युंग आदि पाश्चात्य दार्शनिकों की मान्यता तथा उनके समालोच्य अभिमतों की समीक्षा, आयुर्वेदिक ग्रन्थों के अवतरण और यत्र-तत्र अनेक उदाहरण दे-देकर किया गया है, जिससे यह कृति ‘गागर में सागर’ उक्ति को चरितार्थ करती है।

—अमृतलाल शास्त्री

४. चित्त और मन : प्रथम संस्करण १९६०। मूल्य-३०/- रु०, पृष्ठ-३५६, लेखक—युवाचार्य महाप्रज्ञ। प्रकाशक—तुलसी अध्यात्म नीडम्, जैन विश्व भारती, लाडू-३४१३०६ (राजस्थान)।

‘चित्त और मन’ युवाचार्य महाप्रज्ञ के सन्त हृदय से निःसृत अनुपमेय पुस्तक है जिसे मनोविज्ञान और दर्शनशास्त्र तथा फीजियोलोजी के अन्तर्गत मान सकते हैं। इस पुस्तक में मन और चित्त का सूक्ष्म, सरल एवं बोधगम्य विश्लेषण हुआ है। चित्त और मन को

किसी क्षेत्र विशेष में सीमित नहीं किया जा सकता। क्षेत्र दर्शन का हो या अध्यात्म का, शरीरविज्ञान का हो या मनोविज्ञान का, सर्वत्र चित्त और मन के अन्तर की स्पष्टता आवश्यक है। चेतना आवेष्टित यह मानव-शरीर अनेक रहस्यों से पूरित है। मन की शक्ति क्या है? मन का कायाकल्प कैसे? मन की शान्ति कब? चित्त क्या है? अतीन्द्रिय चेतना कब और कैसे? चित्तसमाधि के सूत्र क्या है? चित्तवृत्तियों की अनेकरूपता मन को नए-नए रूप देती हैं अथवा मन की स्थिरता से चित्त का निरोध होता है? इस प्रकार के चिन्तन-मन्थन से सर्जित प्रश्नों का सहज समाधान इसमें उपलब्ध है।

प्रायः विद्वानों ने चित्त और मन को वैज्ञानिक व्याख्या के जाल में उलझा दिया है किन्तु युवाचार्य महाप्रज्ञ ने इनका सहज चित्रण कर जनसाधारण के लिए उसे बोध-गम्य बनाया है। अब तक मनोविज्ञान के प्रतीक रूप में फ्रायड और युंग जाने जाते थे किन्तु अब एक मनोवैज्ञानिक के रूप में महाप्रज्ञ इस क्षेत्र में चित्त और मन में अन्तर करते हुए कहते हैं कि चित्त हमारे अस्तित्व को दर्शाता है तो मन हमारी प्रवृत्ति को। चित्त में अनुभूति और मन में संकल्प-विकल्प की प्रवृत्ति प्रधान है। मन की चंचलता के बारे में आम धारणा से अलग उनका चिन्तन है कि चेतना के प्रवाह से ही मन चंचल होता है।

अजमेर विश्वविद्यालय के बी० ए० तृतीय वर्ष जीवन-विज्ञान और जैन विद्या विषय के एक प्रश्न पत्र के अन्तर्गत इस पुस्तक का चयन इसकी महत्ता एवं उपयोगिता को दर्शाता है।

एक पंक्ति में इस पुस्तक के बारे में यह कथ्य है कि यह एक योगी की सतत साधना से निष्कर्षित मूल्यों का सार है।

—भानन्द प्रकाश त्रिपाठी 'रत्नेश'

४. मेह सूं पेल्यां—रचनाकार : श्याम महर्षि । संस्करण : प्रथम, १९९१ मूल्य : ५० रु०/- । प्रकाशक : राष्ट्रभाषा हिन्दी प्रचार समिति, श्रीडूंगरगढ़ (राज०)

कवि स्वभावतः दार्शनिक होता है। वह चारों ओर घटित होनेवाले वातावरण को निरपेक्ष भाव से देखता है। कवि श्याम महर्षि के कलेजे में “नृत्योड़ी पीड़” है। मिल्टन के शब्दों में उनकी कविता “a spontaneous outburst of powerful feelings” है। ८० विभिन्न विषयों पर उन्होंने अपनी “टीप” प्रस्तुत की है। “कविता” शीर्षक कृति में वे कहते हैं—“कविता/नींद री गोली नीं/बा है गोली बन्दूक री/कविता म्हारे मन री खुराक है/पांव रो पड़ाव है/म्हारी कविता/कविता मिनख री जवान/ अर मन री पुकार है/कविता अरे करेली पिछाण/भूख अर रोटी री/कविता कवि की छाया है।”

महर्षिजी की कविताएं दृश्यावलि (Imagery) प्रस्तुत करती हैं—“म्हारो बस घर ई है/होवण ने घर मांय सोक्यं/पण/पेंडे में पाणी/अर चूल्हे में लकड़ी/होवण री

गारंटी/में नीं दे सकू/...../पीपे मांय आटो/अर चूल्हे मांय बासते/होणो जरूरी नीं ।”

इसी प्रकार “रोटी री सुगन्ध”, “बबूती अर राख”, “पीपटी”, “दिन अर रात”, “कलम”, “कल्प बिरछ खेजड़ी”, “मिनखपणो” आदि कविताएं सजीव चित्रण, दार्शनिक विवेचन तथा रचनात्मक चिन्तन के लिए बेजोड़ हैं। वे कहते हैं—“कलम/अबै किसी राजा और मंत्री रो/इतिहास नीं लिख’र/दोपारां री तपती मांय/चोणी अर किरासणी तेल री/दुकानां माथै/लम्बी लाइन मांय/खड्ग्या लोग लुगाई/अर टाबरां ने/होती पीड़ हूस/अर झाल माथै/लिखणो चावै/म्हारी कलम ।”

संपादन में कतिपय त्रुटियां खटकती हैं। जैसे पृ० १८ पर (खेजड़ी) तथा पृ० ७७ पर (कल्पविरछ खेजड़ी) दोनों जगह वही एक ही कविता है। अनुक्रमणिका में “मेह सू पेल्यां” कविता का शीर्षक पृ० २४ पर “बिरखा सू पेल्यां” हो गया है। ४८ वर्षीय कवि श्याम महर्षि को अभी बहुत अनुभव लेने हैं—आशा है वे साहित्य व समाज को कुछ न कुछ देते रहेंगे।

—रामस्वरूप सोनी

५. चमगूंगो (राजस्थानी कवितावां) रचनाकार—रवि पुरोहित। संस्करण-१९६१। मूल्य-५०/- प्रकाशक—राष्ट्रभाषा हिन्दी प्रचार समिति, श्रीडूंगरगढ़ (राज०)

“चमगूंगो” रवि पुरोहित की राजस्थानी कविताओं का संग्रह है। उसमें कवि के शब्दों में ६ चितराम, १४ आंतरा, ७ दीठ और १४ टुणकला है।

‘बाल विकास योजना’ में कार्यरत २३ वर्षीय वाणिज्य-स्नातक की ये कविताएं प्रथम प्रयास होते हुए भी ‘चमगूंगो की बिरादरी’ में नहीं लगती, जैसा किसी मदन सैनी ने कहा है। काल रा पौरादार, खूंखड़ री सीख, आलसी मानखो, परिभासा और बैम रो बतूलियो—कविताओं में कविमन तरंगें चमगूंगी नहीं हैं। अंतस रो असूभो’ में उसका प्रश्न—‘काई थारी ई/आ ई गत है/भला मिनख ?’ केवल प्रश्न नहीं है। यह यक्ष प्रश्न है जिसे कवि हृदय ही पूछ और बूझ सकता है। कवि के ‘टुणकला’ तो जन-अभिरुचि से भरे पुरे हैं। उनमें मनोरंजन के साथ-साथ सीख भी है, किन्तु ‘काल रा जाल’ में कवि बचपन से घिर गया लगता है। उद्देश्य, आगरी सूभ, कोठे री संस्कृति जैसी कविताएं भी अभी परिमार्जन की अपेक्षा रखती हैं। फिर भी कवि ने पाठकों को निराश नही किया और उसके इस संग्रह में भविष्य के लिए सुन्दर सपने संजोए हैं।

गेट-अप, साज-सज्जा और प्रस्तुति अच्छी है। कीमत यदि तीस रुपए होती तो पाठकों के लिए ज्यादा अनुकूल होती।

—परमेश्वर सोलंकी

६. जैन योग पारिभाषिक शब्दकोश : संपादक—मुनि राकेश कुमार। प्रथम संस्करण जैन विश्व भारती, लाडनू। मूल्य—६० ३०/-, पृष्ठ—२३३।

यह अपने ढंग का प्रथम कोश है, जिसमें जैन योग की पारिभाषिक शब्दावली संकलित है। भारतीय योग की परंपरा बहुत प्राचीन है। उसका प्रथम व्यवस्थित रूप

हमें पतंजलि के योगसूत्रों में दृष्टिगत होता है। जैन और बौद्ध परंपराओं में भी योग प्रचलित रहा किन्तु पृथक् रूप में वह वहां प्रतिष्ठित नहीं हुआ। जब बौद्ध साधना कृच्छ्राचार में पर्यवसित हुई तो पातंजल योग और बौद्ध दृष्टि के योग से कुछ अवान्तर योग प्रक्रियाएं समुत्थित हुईं, जिनमें हठयोग बहुत प्रसिद्ध हुआ। बौद्धों ने जो अन्तर्दर्शन की प्रवृत्ति विकसित की थी, जिसका आकलन हमें 'विमुद्धि मग्ग' में मिलता है, उसका और जैन परंपरा में विकसित 'आत्मा से आत्मा को देखने की प्रक्रिया' का प्रचार हठयोग के आगे क्षीण पड़ गया था। इधर बीसवीं सदी में जब मनीषियों को अपनी प्राचीन थाती संभालने का पुनः अवसर मिला तो योग के क्षेत्र में बौद्ध 'विपश्यना' और जैन 'प्रेक्षाध्यान' की अवधारणा सामने आई। प्रेक्षाध्यान की जैन पद्धति पर आचार्य तुलसी ने वर्षों तक गंभीर शोध और प्रयोग किए। उसकी उपयोगिता पर 'तुलसी-स्कूल' के विद्वानों ने अनेक ग्रंथ लिखे। मुनि राकेशकुमार का यह कोश इसी परम्परा को आगे बढ़ाता है।

इस ग्रंथ में यद्यपि आगमकालीन योग की शब्दावली अत्यंत अल्प है तथापि उत्तरकालीन योग का समाहार भलीभांति हुआ है। मुनि जी ने योगविशिका, योगदृष्टि-समुच्चय, योगबिन्दु, योगशतक आदि उत्तरकालीन ग्रंथों को ही अपना आधार बनाया है।

प्रस्तुत कोश में प्रविष्टि का क्रम इस प्रकार है—पहले पारिभाषिक शब्द, फिर उसका हिंदी में अर्थ और नीचे पादटिप्पणी। पादटिप्पणियां प्रायः विस्तृत हो गई हैं क्योंकि मूल कारिका या गाथा देकर उसका अनुवाद और व्याख्या प्रस्तुत किए गए हैं। यह स्पष्टता के लिए उचित ही है।

मुनिजी ने शब्दों का अर्थ बहुत स्पष्ट रूप में देने का यत्न किया है। इसके लिए बीजाक्षर-अर्थ, पर्याय, वाक्यांश, वाक्य एवं वृहद् व्याख्या इन सभी प्रणालियों को अपनाया है। जैसे 'क'—आत्मा, ब्रह्म, बीजाक्षर अर्थ का सुंदर उदाहरण है। आष्टे कोश जैसे सामान्य व्यावहारिक कोश में 'क' के १६ अर्थ दिए गए हैं, जिनमें से एक 'आत्मा' भी है। जैन-परम्परा में अन्य अर्थों को छोड़कर 'आत्मा' या 'ब्रह्म' अर्थ में (यो० मा० २६) प्रयोग हुआ है, उसे ही मुनिजी ने प्रासांगिक समझ कर ग्रहण किया है।

जहां उन्होंने पर्याय अर्थ दिए हैं वहां स्पष्टता की कोटियां अवश्य हमारा ध्यान आकृष्ट करती हैं। जैसे 'कलेवर' का अर्थ उन्होंने 'काय' दिया है और 'पाणु' एवं 'भस्त्रा' का भी 'काय' दिया है। कलेवर और काय लगभग समान रूप से ज्ञात शब्द हैं। इस स्थिति में कलेवर का अर्थ अधिक ज्ञात 'शरीर या देह' देना चाहिए था। 'काय' का प्रयोग जैन योग में कायनिरोध, कायपातन, कायोत्सर्ग आदि के रूप में प्रचुर मात्रा में हुआ है अतः 'कलेवर' की अपेक्षा 'काय' को पारिभाषिक मानकर उसकी प्रविष्टि करनी चाहिए थी। 'पाणु', 'भस्त्रा' अवश्य अज्ञात या अल्पज्ञात शब्द हैं, उनका अर्थ 'काय' सर्वथा उचित ही है। अच्छा होता पादटिप्पणियों में वे पंक्तियां दे दी जातीं जिनमें 'पाणु' और 'भस्त्रा' का प्रयोग 'काय' के अर्थ में हुआ है।

अर्थ स्पष्ट करने हेतु मुनिजी ने जो वाक्यांश और वाक्य प्रयुक्त किए हैं, वे बहुत सार्थक और पर्याप्त हैं, जैसे—

“पूर्वगत—पूर्वर्गभित ज्ञान से सम्बद्ध (वाक्यांश)”

“पूरक—बाहर के पवन को खींचकर उसे अपना द्वार पर्यन्त कोष्ठ में भर लेना पूरक प्राणायाम है। (वाक्य)”

यद्यपि कोश में शब्द का अर्थ संक्षिप्त और स्पष्ट देना ही उपयुक्त रहता है परंतु पारिभाषिक शब्द की स्पष्टता के लिए कभी-कभी व्याख्या भी करनी पड़ती है। मुनिजी ने कुछ शब्दों के प्रसंग में यह शैली भी अपनाई है, जैसे—धर्मबीज, धर्ममेघ, प्रशम आदि शब्द द्रष्टव्य हैं।

उनकी व्याख्याओं में भी नपे-तुले शब्द रहते हैं। भरती के शब्द और वाक्य कहीं नहीं हैं। एक कोशकार की यह सबसे बड़ी विशेषता मानी गई है जिसका उपलक्षण प्रस्तुत कोश में प्रतिपद मिलता है; किन्तु कोशकार ने ‘योग’ जैसे प्रमुख शब्द की प्रविष्टि न करके हमें अचंचे में डाल दिया। आरंभ में संक्षिप्त नामों की सूची (Abbreviations) का अभाव भी खटकता है। तो भी, कोश का मुद्रण, साज-सज्जा, बाह्य और आंतरिक कलेवर स्पृहणीय है। ऐसे महत्त्वपूर्ण ग्रंथ का प्रूफ-शोधन निश्चित ही बड़े श्रम एवं निष्ठा से हुआ होगा तभी इतने शुद्ध रूप में यह छपा है। ऐसे श्लाघनीय शास्त्रीय ग्रन्थ से राष्ट्रभाषा का गौरव बढ़ा है। मुनिजी निरन्तर ऐसी कृतियों का प्रणयन करते रहें, इस सदाकांक्षा के साथ मैं प्रस्तुत कोश का हार्दिक स्वागत करता हूँ।

—डॉ० आनन्द मंगल वाजपेयी

जैन विश्व भारती, लाडनू [राज०]

आगम-साहित्य धारकों से एक निवेदन

अनुभव हुआ है कि संस्था द्वारा प्रकाशित आगम-साहित्य के अध्ययन के प्रति श्रावक-समाज की रुचि अपेक्षाकृत कम है या फिर यह विषय सहज ग्राह्य नहीं है। ऐसी स्थिति में पाठकों के लिए रुचिकर योग, कथा एवं जीवन विज्ञान साहित्य उपलब्ध कराने की एक योजना प्रसारित की गई है। इसके अन्तर्गत आपके पास जो आगम-साहित्य हैं उनके बदले में आप मूल्यानुसार योग साहित्य या अन्य साहित्य संस्था से प्राप्त कर सकते हैं।

श्रीचंद बंगानी
मंत्री

एम. ए. और पी-एच. डी. में प्रवेश हेतु सूचना

२६ जुलाई, ६१ को औपचारिक सत्रारम्भ का उद्घाटन राजस्थान के राज्यपाल महोदय द्वारा सम्पन्न हो चुका है। कक्षा-अध्ययन दिनांक २१ सितम्बर, १९६१ से प्रारम्भ है। निम्नलिखित चार विषयों में एम. ए. की कक्षाएं चलेंगी तथा पी-एच.डी. के लिए शोध-कार्य भी हो सकेगा—

- (१) जैन-विद्या और तुलनात्मक धर्म-दर्शन (Jainology and Comparative Religion and Philosophy)
- (२) प्राकृत भाषा साहित्य एवं भाषाविज्ञान ((Prakrit Language, Literature and Linguistics)
- (३) व्यक्तित्व-विकास का मनोविज्ञान, जीवन विज्ञान एवं प्रेक्षाध्यान (Psychology of Personality Development, Science of Living and Preksha Meditation)
- (४) अहिंसा का अर्थशास्त्र और शान्तिशोध (Economics of Non-violence and Peace Research)

प्रवेश-अर्हता

- ० बी. ए., बी. एस. सी., बी. कॉम., शास्त्री, आयुर्वेदाचार्य (बी. आई. एम. एस.), बी. ई. (अभियांत्रिकी) अथवा 'जैन-विद्या स्नातक' उत्तीर्ण जिन्होंने कुलयोग के ४५% अंक या जिस विषय में एम. ए. करना चाहते हैं उसमें ४८% अंक प्राप्त करने वाले सभी विद्यार्थी एम. ए. में प्रवेश के लिए पात्र हैं और सम्बन्धित विषय में एम. ए. या समकक्ष योग्यता-प्राप्त विद्यार्थी पी-एच. डी. में प्रवेश ले सकते हैं।

छात्रवृत्तियां

- ० पोस्टग्रेज्युएट कक्षाओं के सुयोग्य विद्यार्थियों के लिए न्यूनतम २५० रुपये से अधिकतम ५०० रुपये प्रतिमाह की २० छात्रवृत्तियां उपलब्ध हैं।
- ० शोध-छात्रों के लिए न्यूनतम १००० रुपये से अधिकतम २००० रुपये प्रतिमाह की १० छात्रवृत्तियां दो वर्षों तक देय हैं।
- ० छात्र-छात्राओं के लिए अलग-अलग छात्रावास की व्यवस्था उपलब्ध है।
- ० विशेष जानकारी के लिए रजिस्ट्रार, जैन विश्व भारती इन्स्टीट्यूट, लाडनू-३४१३०६ (राज०) के नाम ५/- रुपये का रेखांकित भारतीय पोस्टल आर्डर और ६" × ६" आकार का डाक टिकट सहित स्वयं का पता लिखा लिफाफा भेजकर इन्स्टीट्यूट का प्रोस्पेक्टस मंगाएँ।

—कुलसचिव

Tulsi Prajna

Vol. 17

July-September, 1991

No. 2

(English-Section)

QUARTERLY RESEARCH JOURNAL



Jain Vishva Bharati, Ladnun-341306

A CREATIVE GENIUS : SHRIMAD JAYACHARYA

[Jaya was a born poet. He composed संतगुणमाला while he was a child of eleven and translated पन्नवणा सुक्त in Rajasthani poetry in the eighteenth year of his age.

He composed three and half lacs *anuṣṭups* and was the first to render cononical texts in lyrical form. भगवती की जोड़ is a unique Jain encyclopaedic scripture containing 60906 interpretative verses, composed in Rajasthani poetry, representing 329 *rāgas* and *rāginis* of Indian classical music.

He interpreted all the writings of Acharya Bhikṣu, the founder. He regulated the Order by constituting a set of rules of conduct called *maryādā*. —Editor]

Shrimad Jayacharya established a new record in respect of quality as well as quantity in the history of Rajasthani literature by composing as many as 128 works, equivalent in volume to 3.5 lacs of Anuṣṭup verses (each verse containing 32 syllables). As regards the subject matter of these works, it comprises religion, philosophy, spiritualism, history and such other subjects in the form of memoirs, epics, stories and didactic narratives through prose, poetry, and versified translations which are the best representatives of Rajasthani literature. The credit of giving the status to literature of Rajasthani language and also preserving and enriching its vocabulary squarely goes to him. The vocabulary of ancient and mediaeval Prakrits and Apabhramśa language was extensively drawn upon by him in his works to enrich the Rajasthani language as well as literature.

He embellished the literature of Rajasthani and also brought to limelight the basic elements of the Rajasthani culture. A realistic depiction of the various facets of the Rajasthani folk-life has found place in these works in the context of family and social environment. While his poetic compositions are resonant with the melodies of the Rajasthani folk-songs, his prose writings have successfully reflected the glorious inheritance of folk-tales and narratives embodied in the folk-literature of Rajasthan.

Among the literary compositions of Jayacharya, the *Bhikṣudṛṣṭ-ānta* etc., fall under memoirs, the *Upadeśaratna-kathākośa* under

mythology and history, and the *Jayajñāśakaraṇa-rasāyana* under narratives. All these literary works, besides being full of the sentiment of renunciation and being instructive, are fully representative of the artistic aspects of literature. A good number of the linguistic and grammatical peculiarities of the Rajasthani language are reflected in this literature.

His lyrical translations of the Prakrit texts like the *Bhagavatī Sūtra*, *Prajñāpanā Sūtra*, *Jñātādharmakathāṅga Sūtra*, *Uttarādhyayana Sūtra*, *Āyāro*, *Anuyogadvāra*, *Niśītha Sūtra*, etc., set a novel and unique example of his literary excellence along with the translation, at places expository comments in the form of 'Vārtikas' (Aphoristic propositions) have been incorporated. Elaborate exposition of difficult texts has also been made at places on the basis of the original *sūtras* and their commentaries.

Among the best works of Shrimad Jayacharya can be mentioned his philosophical and logical treatises like the *Jhīnī Carcā*, *Carcā Ratnamālā*, *Bhramavidhvānīśanam*, *Praśnottara-Tattvabodha*, *Jinamukhamāṇḍanam*, *Kumativikhaṇḍana*, *Sandehaviśausadhī*, *Bhikṣu-Kṛta Huṇḍī Ki Joḍa*, *Siddhāntasāra* etc.,

These treatises which embodied his deep metaphysical thought and logical analysis are as valuable as those of the Western thinkers like Hegel and Kant. He was equally adept in the composition of books on Jaina Logic, Sanskrit Grammar, and Sanskrit poetry which found a lucid exposition in his Rajasthani verses. His '*Naya-cakra kī Joḍa*', '*Siddhānta Chandrikā kī Joḍa*' and '*Bharata-Bāhubali kī Joḍā*' are specimens of his unique poetic art.

In Shrimad Jayacharya, we have a master mind from North India, second to none so far as his contributions to the thought and life and the literary achievements of that area are concerned. Besides being a spiritual mystic, a religious teacher, a seer, a philosopher, a practical constitutionalist, an able administrator, a widely-travelled ascetic and a great religious reformer, he was a felicitous poet, prolific author, and a great litterateur. His was a personality that transcended the finitude of space and time. And this is the reason why his literary contributions inspire us even today after a century of his *nirvāṇa* and are bound to remain a perennial source of inspiration for generations to come. What is needed is the dissemination of his thought and writings, critically edited and published, among the public at large, interested in literature and culture. □

EQUIVALENT VIEWS ABOUT ULTIMATE REALITY IN JAINISM AND HINDUISM

□ *Dr. Premsuman Jain*

The main aim of the religions of India is to liberate one's soul for ever from the sorrows of life. Therefore they can be seen to make efforts for the realisation of *summum bonum*. One can experience happiness in the state of full freedom and in going from the sphere of ignorance to the sphere of knowledge. Therefore, by self-perception the Indian philosophers try to inspire us to know about the ultimate reality, which is absolutely free from Karmic bondages and in which there is absence of all kinds of sorrow. In Jainism and other Indian religions such kind of supreme reality has been described by different names. Among these names *Mokṣa* (salvation), *Nirvāṇa*, (the final result of the extinction of desire), *Paramātmā* (the supreme soul), *Brahma* (the transcendental reality) are more popular. In order to know the equivalent views about the ultimate reality in Jainism and Hinduism, it is essential to think about the nature of *Ātmā* (soul or self), *Mokṣa* (salvation) and *Paramātmā* (Supreme soul). The key to know all universe through the reality of soul is given in the ancient scriptures.¹ Who knows the soul is the knower of all universe? The knowledge of the reality of being and non-being is the state of liberation and liberated soul is known as ultimate reality, supreme soul and *Brahma* (the unitary Absolute postulated by Vedānta) etc.

The concept of the supreme element has been developed as an ideal of moral and spiritual life. Nearly in all religions of India the importance of the Supreme Deity has been recognised. In spite of the differences in its names, the nature of the 'Supreme Deity' is more or less the same. Therefore, one Jaina poet says that one who is worshipped by Śaivas as 'Śivā', called 'Brahma' by Vedāntists, 'Buddha' by the Buddhists, 'Kartā' by the Naiyāyikas, 'Arhant' by the followers of Jainism and 'Karma' by the Mīmāṃsakas who is also known as the lord of the universe & 'Hari' should bestow on us the desired results.² Ācārya Abhinavagupta has expressed the same view. According to him differences of opinion exist among the Indian philosophers about the names of supreme being but there is no difference about its main characteristics. In other scriptures of Hinduism the same view has been expressed.³ Majority of the Indian philosophers admit that real know-

ledge about this authority, the supreme soul or the transcendental reality is gained after attaining salvation.

Similarities Relating to Salvation

The development of the nature of the concept of salvation in the Indian religions has been gradual. Cārvāka has treated the end of the body as salvation. Nyāya-Vaiśeṣika, Pūrva Mīmāṃsā and Vaiśvāṣikas have recognised separation of adventitious qualities—consciousness and pleasure etc. as salvation. The Sautrāntikas (Buddhists) have called the negation of the expression of power as 'Nirvāṇa' or salvation. Sāṃkhya define salvation as the gaining of knowledge about the real nature of the power and state of consciousness as 'Kevalya' or salvation. They do not recognise the element of pleasure in it. Jaina philosophers are of the view that gaining knowledge of the real nature of the soul is salvation. In this state the liberated soul is the master of infinite knowledge, infinite faith, infinite bliss and infinite power. Such free souls are infinite. According to the Vedānta philosophy the free soul after attaining similarity to God submerges itself into *Brahma* (Transcendental Reality) and feels as one with God. In the enjoyment of knowledge and happiness the free soul is like God. In the Vedānta philosophy of Śaṅkara the free soul is identified with the transcendental reality. A close analysis of the process of the liberation of the soul in these different philosophies reveals that almost all of them have regarded self-realization gained after overcoming ignorance necessary for the liberation of the soul. And they have also admitted the end of sorrows and freedom from the circle of birth and rebirths.⁴

Among the various Indian philosophies almost all the thinkers have accepted in one form or another the concepts of liberation in this very life after realising truth (*Jeevan-mukti*) and liberation after death (*Videha-mukti*). In the tradition of Gitā and Vedānta the complete conquest of attachment and the end of the physical body of such a mendicant is treated as disembodied liberation. In the Buddhist philosophy after complete destruction of cravings the *Sopādiśeṣanirvāṇadhātu* is gained and *Anupādiśeṣanirvāṇadhātu* is gained only after death.⁵ The Jaina philosophers call the extinction of attachment, aversion etc. as the spiritual freedom (*Bhāva-mokṣa*) and the liberation after death as absolute emancipation (*Dravya-mokṣa*). The soul which attains the above two stages is known as 'Sayogakevalin' (Liberated soul with activities) and *Ayogakevalin* (liberated soul free from all activities) respectively. In the Gitā the state of liberation in this very life is called as *Sthitaprajña* and in Vedānta it is named as the individual soul (*Jīvātmā*). In Buddhist philosophy a living being who secures liberation in his own

life is known as 'Arhat', 'Kevali', 'Upsānta' etc. In Jaina philosophy such souls gaining spiritual freedom are known as 'Arhat' 'Vītarāga', and 'Kevali' etc. All such liberated souls are regarded to be free from attachment, aversion, bearer of equanimity and destroyer of the cycle of births and rebirths. After this stage the liberated soul which has completely freed itself from deeds (*Karmas*) and which has foresaken all its worldly pleasures and the body is known as 'Supreme Soul' (*Paramātmā*) in *Gitā*, transcendental reality (*Brahma*) in *Vedānta*, 'Buddha' and 'Nirvāṇa' in Buddhism and 'Siddha' and 'Paramātmā' in Jainism. At this stage the identities of the mendicants and the object of medicancy are merged into one.⁶ In this stage there is no distinction between the knower, knowledgeable objects and knowledge. The soul gaining this absolute emancipation becomes the object of devotion, God and supreme soul for other mendicants. In *Samādhiśataka*, a Jaina scripture, the liberated soul is regarded as self-willed (*svatantra*), perfect (*paripūrṇa*), Supreme being (*parmeśvara*), undestructive (*avinaśvara*), highest (*sarvocca*), paramount (*sarvottama*), infinitely pure (*paramavisuddha*) and eternal soul (*nirañjana*). Generally the same or similar terms have been used for the God or the supreme soul. Thus it appears that in the beginning the Indian scholars, after experiencing the power of nature, king, brave person, religious head etc. might have called them as God. But later on thinkers, who laid emphasis on meditation and knowledge gave the names of salvation (*Mokṣa*), supreme soul (*Paramātmā*), god of gods (*Devādhideva*), transcendental reality (*Brahma*) etc. to the completely liberated soul.

Importance of the Supreme Soul

Many Hindu philosophers have propounded several reasons for the necessity of worshipping god. In Vedic philosophy the supreme soul is described as the fruit of the Vedas which are like trees.⁷ In the Upaniṣads the God is recognised as the controller of the whole universe.⁸ The God, which is like the life of the universe, is also called as the transcendental reality (*Brahma*). In *Pūrva-Mimāṃsā* only words of Vedas are treated as God. Therefore, in it the Vedic hymns are bestowed with godliness. In *Sāṃkhya* and *Yoga* philosophies fruits of deeds (*Karmas*) are supreme. Therefore, in these philosophies the God is recognised as an object of worship but not as giver of the fruits of one's deeds. In *Nyāya*, *Vaiśeṣika* and *Vedānta* philosophies the need of God is recognised in the form of an organiser of world and controller of deeds. In the *Gitā* both the forms of God are recognised. God is above the laws of deeds (*Karmas*) and is compassionate towards the devotees.¹⁰ But in this scripture it has also been advocated that God

does not control deeds and their fruits. The laws of deeds are automatically regulated.¹¹

Jaina philosophy does not recognise God as the controller of deeds because by admitting this, the theory of law of deeds and power of God both become less significant. Therefore, in the Jaina philosophy the soul is regarded as the performer of the deeds as well as one who enjoys their fruits and the same soul by detaching itself from the deeds becomes supreme being. Thus the controller of deeds and the God are the two stages of the soul¹² In the *Gītā* the God has also been regarded as an ideal of morality and worth reverence. A supreme soul which is absolutely devoid of attachment and aversion (*Vītarāga*), free from any wish (*Niṣkāma*), omniscient (*Sarvajña*), and omnipotent (*Sarvaśaktimān*), is the moral ideal of the *Gītā*. The same supreme soul (*Paramātmā*) absolutely devoid of attachment and aversion (*Vītarāga*) potentially having four virtues—infinite knowledge, infinite perception, infinite power and infinite excellence—is also the ideal of Jaina ethics.¹³ Both the *Gītā* and the Jaina philosophy recognise that perfection in moral life is only reached by becoming equal to God. Thus God is the highest authority and of the highest value.¹⁴

World Creation and Supreme Reality

In the various ancient philosophies of India the concept of the supreme reality is connected with the concept of creation of the world. The different concepts relating to the creation of world and the God can be classified in three categories—firstly—the supreme soul of the transcendental reality is regarded as eternal and infinite. From nothingness the elements of the universe have been created. Therefore, God is the creator. The second set of philosophers maintain that worldly elements cannot be created out of nothingness. According to them living and non-living elements are not created by anybody. They existed from beginninglessness but to create and destroy the forms of these elements is in the hands of some super being, who is God. Consequently God is regarded as an organiser. The third group of philosophers believes that neither living beings nor non-livings being were created by any body and are also not controlled by any supreme authority. In their opinion there are automatic changes in the qualities and nature of the elements and the world is being regulated and will be regulated by them. Hence there is no need to recognise God as creator, controller and destroyer of the world. Jaina philosophers are prominent among those who believe in this theory. On the basis of basic texts of Jainism the views of Jaina thinkers relating to ultimate reality and the objects of its worship are being discussed here in somewhat more details.

Jaina religion has discussed scientifically regarding the form of the universe. The world is formed of six substances—Soul (*Jīva*), Matter (*Pudgala*), principles of Motion (*Dharma*), principles of Rest (*Adharma*), Space (*Ākāśa*) and time (*Kāla*). These six substances form the world by their composition.¹⁵ Thus the universe has no beginning and no end. It is infinite. Therefore, there is nothing like God who creates or destroys this universe. The changes occur in the substances automatically. So substance is eternal with reference to its qualities and non-eternal due to its modifications. Jaina philosophers have described substance (*Dravya*) with quality (*Guṇa*) and mode (*Paryāya*). According to Jaina point of view any existent (*Sat*) must be seen on three levels—firstly the modes, which last only a moment and belong to the qualities, secondly the qualities, which undergo changes and yet are inherent for ever in their substances and thirdly the substance, which remains the abiding common ground of support for the qualities and their modes. Out of these six substances soul is living and other five are non-living. Therefore, basically in the creation and continuation of the world these two substances—soul and matter—are primary.

The soul has to pass through various stages because of the findings born of the combination of the two principal substances—soul and matter. The soul has to pass through many stages and experience—good and bad. It is called worldly life. If the process of the combination of soul and matter is obstructed and the bindings born of their combination are destroyed, then soul may reach its pure and free position. This is salvation of the soul. There are seven fundamentals controlling the whole process of worldly life and salvation. They are—soul (*Jīva*), matter (*Ajīva*), inflow of fresh karmic matter (*Āsrava*), Karmic bondage (*Bandha*), checking of Karmic matter (*Samvara*), shedding of Karmic matter (*Nirjarā*) and liberation (*Mokṣa*).¹⁶ With the addition of two more fundamentals of sins and virtues (*pāpa* and *puṇya*) there are nine fundamentals known to Jains Philosophy. According to Jaina philosophy the ultimate goal of soul is salvation. It is the final stage and the ultimate aim of each and every religious person. For this, self-realization and meditation with some code of conduct are prescribed in Jaina philosophical literature. In nutshell it is the essence of Jaina philosophy. All the characteristics and conducts of Jain religion are related to it.

According to Jaina ethics every living being is himself responsible for bearing the fruit of his good or evil deeds. It is the rule of nature in practical life also that the seed decides the kind of fruit. Jaina philosophy has reflected that one gets happiness by doing good deeds, and sorrow by doing evil deeds. Therefore, man should have good

intention in mind. He should speak sweet words and do good work with his body. Self is free and competent to do so. Self is the real cause of sorrow and joy. It is clearly pointed out in the *Uttarā-dhyānasūtra* that—

‘Appā kattā vikattā ya duhāṇa ya suhāṇa ya /
Appā mittamamittam ca duppaṭṭhia supattiho //’

(My own self is the doer and undoer of misery and happiness, my own self is friend and foe, according to as I act well or badly).⁷¹

From the propounding of Jaina karma theory it has become very clear that self is the only centre of good and evil action. Basically self is the centre of infinite powers. Knowledge and consciousness are its basic qualities. But the veil of Karmas hides its pure form. Jaina ethics affirms that the ultimate goal of a person should be to attain this pure form of the self. Then this self becomes absolute. According to Jaina philosophy the power of manifestation of self into absolute is in the man itself, because man has wish, determination and intellect. Therefore, he can act independently. Thus the main originator of worldly process and spiritual advancement is none but man himself. According to the Jaina view, all the souls stand alike potentially. They have the quality to become absolute but these qualities can be fully attained in human life alone, because self-control and virtuous actions are possible in human life only. Thus whatever elevation has been given to mankind by Jaina ethics is superb. In other words, “Only man is capable of unfolding his potential attributes perfectly. To express it differently, though every soul is potentially divine, yet the attainment of freedom is rendered possible only when the soul achieves a human form : hence the importance of human birth.”⁷²

Because of this excellence of man in Jaina religion the God having all worldly powers becomes quite unimportant. According to Jaina view no one can ever become God who has any desire left like creation or destruction of the world. It is out of the reach of any superman that it can change the form of any matter and can cause joy or sorrow to any person, because each matter is qualitative and independent. Nature functions in its own way. It is guided by its own rules. A person gets joy and sorrow according to his acts and potential power. Therefore, Jaina ethics negates that type of existence of God, which Prophet Mohammad has in Islam and Jesus Christ has in Christian religion. The all-powerful God of Hindu religion is also not accepted by Jaina religion because it encroaches the liberty and potential power of man.⁷³

Like the Jaina the Sāṃkhya philosophers have also accepted the denial of the role played by the God in the creation of the world. Even

philosophers like Kumārīlabhatt and Prabhākar Mīśra do not accept the God as the creator because they believe that the world is beginningless. The Jaina and the Mīmāṃsakas have put forward similar arguments about the denial of the God as the creator of the world.²⁰ In the works of the early Vaiśeṣikas there is also the denial of concept of the God. In the Yogasūtra of Patañjali and Nyāyasūtra of Gautama the God has been visualised as an ascetic (*Yogi*), free from the eighteen defects and blemishes (*Āpta*), and omniscient (*Sarvajña*) etc. In Jaina philosophy also a liberated soul is regarded as *Paramātmā*, *Āpta*, *Sarvajña* etc. Thus after a close scrutiny of the beliefs of different philosophers of Jainism and Hinduism about ultimate reality it transpires that all of them have expressed almost equivalent views.

Though Jaina religion negates the existence of God who causes creation and destruction, still Jaina ethics accept the existence of that pure form of soul which has become enlightened because of its excellent qualities. Jaina religion has recognised a number of such enlightened souls who have experienced infinite joy and who have become free from this world. Such enlightened souls have been called 'Arhat' and 'Siddha'. They have realized the real form of self by winning over senses. Dr. D.N. Bhargava rightly observes that "These *Siddhas* are far more above gods or deities. They neither create nor destroy any thing. They have conquered, once for all, their nescience and passions and can not be molested by them."²¹ These *Arhats* and *Sidhas* are also known as *Āpta* (free from the eighteen kinds of defects and blemishes), *Sarvajña* (an omniscient being), *Vītarāgī* (free from passions), *Kevali* (attained highest knowledge), *Paramātmā* (the highest soul), *Parameṣṭhin* (The supreme divinity) etc. Jaina ethics has the provision of worshipping such *Arhats* and *Siddhas* but from them no material is desired. They are worshipped for attaining their spiritual qualities for which the worshipper has to do penance himself.²² A person's feelings get purified gradually from this worship. It purifies his actions continually.

The self of man is under a gradual process of development. There are three kinds of souls according to Jaina ethics.²³ (1) Outer-self (*Bahīrātman*)—it remains involved in wordly affairs taking body to be the soul. (ii) inner-self (*Antarātman*)—it understands the difference between body and soul and tries to attain the form of soul leaving the attachment of the body and (iii) enlightened soul (*Paramātman*)—it has known and realized the real form of soul. It is full of infinite knowledge and joy. Ācārya Kundakunda, a Jaina philosopher, had advocated this view first of all and it was developed by other Jaina thinkers.²⁴ In Hinduism also the nature of the development of the soul

has been described by different names. Upaniṣads classified the soul in three forms : *Jñānātmā*, *Mahadātmā*, and *Śuddhātmā*. More than once Upanisadic passages distinguish the body from the soul. The distinction of *Jivātaman* and *Paramātman* in later Hindu Texts is also quite famous.

Names and Virtues of the Supreme Element

In the Jaina philosophy the liberated soul is regarded as the supreme being. In accordance with its different stages and virtues it is known by the names of *Arhanta*, *Siddha*, *Kevali*, *Jina*, *Tirthankara*, *Āpta*, *Sarvajña*, *Paramatmā*, *Vitarāga* etc. In all these names the main attributes are the same i.e. they are devoid of all sorrows on account of being in a liberated stage. In several ancient scriptures one thousand and eight virtues are described in the liberated soul.²⁵ Among these, four main virtues—*infinite knowledge, infinite perception, infinite power and infinite excellence*—are prominent.²⁶ On making a comparison of these virtues we know that according to Hindu philosophy the God, transcendental reality or the supreme soul possesses virtues of knowledge, power, excellence, virility, energy and glory.²⁷ It is because a God devoid of virtues cannot be worshipped. In the western philosophy also the God is imbued with several virtues. The God is omnipotent, omniscient, completely knowledgeable, free-willed, eternal, auspicious and has a personality. Although statements about the virtues of the God are non-cognitive,²⁸ even then in Indian philosophies the God is vested with uncountable virtues. In Jaina philosophy also several miraculous powers are ascribed to the '*Tirthankaras*.²⁹ In some Jaina scriptures the description of the virtues of the supreme soul is viewed from a negative aspect. The liberated soul is neither heavy, nor light, nor black, nor white, nor long, nor short, nor female, nor male, nor a eunuch.³⁰ Therefore, the nature of the supreme soul is undefinable. The doctrine of negation advocated by Śāṅkara and the doctrine propounded by Thomas Aquinas,³¹ a western philosopher, are similar to the doctrine of negation advocated in the Jaina philosophy. From this we can infer that the meaningfulness of the virtues and names of the supreme being lies in admitting it in a symbolic way. It gives strength for expressing equivalent views about ultimate reality. In the Jaina philosophy it is believed that from the transcendental point of view the supreme soul is purely conscious. From the empirical point of view it is possible to describe the virtues of the supreme soul. We worship the supreme soul through different symbols. These symbols are meant for having a self-realization of virtues vested in the supreme soul. Umāswāmi has rightly said—"I bow to the Lord who is the leader to

the path of liberation, the destroyer of the mountains of Karmās and the knower of the whole of reality, so that I may realise those qualities." Paul Tillich, a western philosopher, also regards the supreme power as colourless, pure and like a white curtain. It can be perceived but is not capable of description.³²

Names used for the supreme element are similar in the Jain and Hindu religions. Lord of the universe, supreme knower, one who eliminates sorrows—(*Hari* or *Har*), transcendental reality (*Brahma*) and best among souls (*Puruṣottama*). Several other hundreds of such names used for the supreme element in Hinduism are also used for the Jaina *Tirthankaras*. However, all such names are represented as symbols. According to Jain traditions *Brahma* is one by the remembrance of which virtues are increased; a soul which has observed complete celibacy (*Brahmācārya*) is supreme *Brahma*, a soul which is imbued with excellence of supreme knowledge (*Kaivalya-Jñāna*) etc. is God. A soul which devoids itself from the fruits of all deeds and imbibes the greatness of eight virtues is the supreme soul, the merger of soul in its body becomes *Viṣṇu*, and because it is responsible for its own development it is self-developed (*Svayambhū*).³³ In the Ādi-Purāṇa Ṛṣabhadeo, the first *Tirthankara* of the Jains, has been adored with the titles of (i) *Hiraṇyagarbha*. (ii) Transcendental Reality, and (iii) Lord of the people (*Prajāpati*) etc. These titles indicate several virtues of Ṛṣabhadeo. Similarly in Vedic scriptures among the thousand names of *Viṣṇu* many names of *Tirthankaras* are included. Hence in the analysis of the supreme power a process of reconciliation is discernible in the religious literature of the Hindus and Jains. But in spite of the above similarities in the names of the supreme soul in both the religions, there are some differences. But the names are insignificant here, and virtues are considered important. Therefore one Jaina saint says :—

"Let me always salute him who is free from blemishes of anger, hatred etc., which haunt the mind like poison, who is full of compassion and who has perfected himself by all virtues, whether he is called by the name of *Viṣṇu*, *Śiva*, *Brahma*; *Devendra*, Sun, Moon, *Bhagavān* or *Buddha*."³⁴

Paths towards Attainment of Supreme Being

In Jaina and Hindu religions similarities do not exist only in the characteristics, virtues and names of the supreme being but also in attaining its status and in the ways of experiencing it. In Jaina religion, the way of spiritual practice has been shown by describing the form of universe through metaphysical analysis and raising the determination and potential for working by advancing the Karmic theory. It is the

principal feature of Jaina ethics, Jainicīrya Umāsvāmi has called these three—right faith, right knowledge and right conduct (together) constitute the path to liberation :—

Samyag-darśana-jñāna-cāritrāṇi mokṣa-mārgaḥ.

These three have been called three jewels because of their prominence in the way of salvation. These three are inter-dependent and inter-related.³⁵ Right knowledge is the first state of spiritual practice. Having faith on the form of seven fundamentals as described by *Jina* (spiritual victor) is called right faith. It modifies the view of man. After attaining the right faith an aspirant gets right knowledge. When he knows those elements fully, on which he has faith, he attains right knowledge. In fact the knowledge of the form of body and mind or living or non-living is right knowledge. In Jaina ethics this self-knowledge is specially important because on the basis of this, the conduct of the man is predicted. Jaina philosophy has proclaimed very liberally that Truth is not bound by the limits of a man, caste, religion or country. The subject of right knowledge is an attempt to know the various dimensions of Truth by giving due honour to its absoluteness. The basis of Jaina ethics is right conduct. In Jain scriptures conduct has been described keeping in view the life of monks and householders. The main object of the conduct prescribed for monks is self-realization whereas in the conduct of house-holders the development of man and society is also included.³⁶ Similarly the assimilation of detachment and attachment is there in Jaina ethics.

Like the Jaina religion other Indian philosophies have also advocated the threefold path for the attainment of the status of the supreme element. According to the Buddhist philosophy salvation (*Nirvāna*) can be attained by observing the virtues of character (*Śīla*), meditation (*Samādhi*) and wisdom (*Prajñā*). In the *Gītā* the paths of knowledge (*Jñānayoga*), good deeds (*Karmayoga*) and devotion (*Bhaktiyoga*) are considered paramount. The path of hearing (*Śravaṇa*), cogitation (*Manana*) and deep meditation (*Nididhyāsana*)³⁷ is intimately related to the path of faith, knowledge and character advocated in Jainism. Some Western scholars have also recognised this threefold path for attaining the status of the supreme soul. 'Know thyself', 'Accept thyself' and 'Be thyself' are the three moral doctrines advocated by them.³⁸ By discovering similarities in these paths propounded by different religions one can have a glimpse of the similarities in the nature of the supreme power and also in experiencing it. Because in the end no difference exists between mendicant, path of devotion or the object of attainment. Jainism tells us that the soul is itself know-

ledge, faith and conduct. When it appears in its purest form, it is known as supreme soul. At this stage the differences between the knower, (*Jñātā*) knowledge (*Jñāna*) and objects of knowledge (*Jñeya*) cease to exist. The ideal of '*Brahmvid brahmaiva bhavati*' becomes a reality. Dr. Radhakrishnan has called it 'the religion of the supreme spirit.' Pūjyapāda, a Jaina philosopher, has explained the status of the supreme power in this manner—'Whatever is supreme soul is myself and whatever is myself is the supreme soul. I am a devotee to myself and nobody else.'²⁹ Śāṅkara has described the status of this purest nature of the supreme soul in the following verse :

*Na bandhurnamitram gururnaiva śiṣyaś |
cidānandarūpaḥ śivo'ham śivo'ham ||*

Conclusion

Thus the conception of the God in Jaina and Hindu religions is integrated with the conceptions of soul (*Ātmā*), salvation (*Mokṣa*) and supreme soul (*Paramātmā*). The object of attaining the status of supreme being is determined after knowing the real nature of these three conceptions. In both the religions the supreme reality is in the form of an ideal for the fulfilment of moral values. From the empirical point of view God may be seen as the creator of the world, its organiser and compassionate towards living beings but for the state of transcendentalism God is pure conscious, highest knowledge and full of pleasure. The different names of the supreme reality are more or less the same in both the religions and wherever the differences in the names are visible there, both the religions agree about these symbols of virtues which are depicted in them. There can be differences in the numbers of such virtues in these two religions but the fundamental virtues of the supreme soul are more or less similar. The supreme soul is devoid of all sorrows. It is conscious, supreme knower and full of pleasure. It does not entangle itself again in the bondages of the world by leaving its status of supreme reality. In the same manner there are similarities in the ways and means of attaining the status of supreme soul, differences exist only in names of the paths. Through devotion a worldly being uses the concept of supreme element for his spiritual development so that one day a similar status that of God may be obtained by it.

The moral ideals, which are followed in this path of purifying the soul, are also useful for the preservation of humanity and the welfare of the living being. When the Hindu religion reaches the stage of spiritualism-rooted religion from devotion-rooted doctrines, it comes near Jainism. The concept of the supreme element and the paths of attaining this status brings the two religions closer to each other. But in

the observance of ethical values and devotion etc. both these religions have their separate identities. Efforts to foresake the feelings of pride and attachment, having liberal views for not insisting on any worldly statement, leaving the habit of conserving articles for personal comforts and emphasising the need of preserving the all living beings for social harmony are those values of humanity which can maintain peace and proper balance in the world. Both Jainism and Hinduism inspire mankind for the observance of these virtues and values. By observing this type of life and views the path of attaining the status of ultimate reality is enlightened. It may be concluded that where equivalent views exist about the conceptions of salvation and its paths etc. in Indian religions as well as in other religions of the world, these should be known and propagated for the welfare of mankind. Wherever there are differences of opinion on such philosophical thinkings, these should not be rigidly insisted upon. It may help in exploring the ultimate truth.

References :

1. (a) Bṛhadāraṇyaka Upaniṣad, 2.4.8 (Gorakhpur, Geeta Press, 1960)
(b) Ācārāṅgasūtra 4.4.74 (Ed.) Yuvācārya Mahāprajña, (New Delhi, Today and Tomorrow, 1981). (English Tr.) p. 175.
2. Hanumannāṣṭakam, 1.3
3. (a) Bhagavad Gītā, 11.28 (Gorakhpur, Geeta Press, 1962).
(b) Muṇḍaka-Upaniṣad, 3.2.8 (Gorakhpur, Geeta Press, 1959).
4. Lad, A. K., Bhārtīya Darśanon Meṅ Mokṣa-Cintana—ek Tuṅnātmaka Adhyayana (Bhopal, M. P. Hindi Granth Academy, 1973), p. 297-298,
5. Itibuttak, 2.7.
6. (a) Samayasāra Ṭikā (Amṛtacandra), 305 (Bombay, Rāyacandra Śāstramālā, 1962),
(b) Yogaśāstra (Hemacandra), 4.5 (Eb.) Muni Samudarsī (Agra, Sanmati Jñānpeeth, 1963).
7. Samādhiśataka (Pūjyapāda), V. 5 (Delhi, Vira Sevāmandira, 1963).
8. R̥gveda (Yāśka comt.), 10.71.5 (Bareilly, Sanskritiśāsthān, 1962).
9. Śvētāśvatara-Upaniṣad, 6.1 (Gorakhpur, Gītā Press, 1961).
10. Bhagavad-Gītā, 7.22.
11. Ibid., 5.14.
12. Śāstravārtāsamuccaya (Haribhadrasuri), 207, (Ahmedabad, L. D. Institute, 1968).
13. Jaina, Sagarmal, Jaina Baudhha Aura Gītā ke Ācāra Darśanon kā Tulanātmaka Adhyayana Vol. I (Jaipur, Prākṛt Bhārti, 1982) p. 446.
14. Sinha, J. N., Paścimi-Darśana (Merath, J. P. & Co., 1960), p. 267.
15. Jaini, P. s., The Jaina Path of Purification (Delhi, Motilal Banarsidass, 1979) p. 89-106.
16. Tattvārthasūtra, Ch. 1.4, (Ed.)—Samghavi, Sukhlal (Varanasi, P. V., 1952).
17. Uttqrārdhyayanasūtra, Ch. 20, Gāthā 37 (Tr. Jacobi, H. in Jaina Sūtra Part-2, (New-york, Dover Pub., 1968), Reprinted, p.104.
18. Sogani, K. C., Ethical Doctrines in Jainism (Sholapur, J.S.S. S., 1967) p. 74.
19. Jaina, M. K., Jaina Darśana (Varanasi, Varni Granthmālā, 1966).

20. Tagare, G. V., 'Concept of the Deity in Early Jainism—A Comparative View'—Article Published in *Tulsiprajñā*, Vol. XV, No.1 (June 1989), p.43.
21. Bhargava, D., *Jaina Ethics* (Delhi, Motilal Banarsidass, 1968), p. 26.
22. Upadhye, A. N., Ed. 'Paramātma Prakāśa, (Bombay, R. J. S., 1937). Introduction, p. 36.
23. *Kārtikṣyānuprekṣā*, Ed. Upadhye (Agas, 1960) Gāthā, 193-194.
24. *Mokkhapāhuḍa (Kundkund)* Published under the Title of *Aṣṭapāhuḍa* (Jaipur, T. S. 1976), Gāthā-5.
25. *Jambūdvīpapaṇṇattī*, Ch. 13, Gāthā, 88-92, (Sholapur, J. J. G., 1958).
26. *Niyamasāra (Kundkund)* Ed. Upadhye, A. N. (New Delhi, Jñānapeeth, 1975). Gāthā-72.
27. Dvivedi, A. N., *Essentials of Hinduism, Jainism & Buddhism*, (New Delhi, Books Today, 1979), p. 70.
28. Masih, Yakub, *Samakālīna Darśana* (Patna, Bihar Hindi Granth Academy, 1984) p. 109.
29. *Tiloyapaṇṇattī (Yatīṣṣabha)*, Ed. Upadhye (Sholapur, J. J. G. 1952).
30. *Ācārāṅgasūtra*, *Ibid.*, 1,5.6. 171.
31. See—Thomas Aquinas; *Selected Writings*, Ed. Robert P. (Goodwin, Indianapolis, 1965).
32. See—*Systematic Theology* (Paul Tillich) in 3 Vols. (Chicago University Press, 1951-1963).
33. Shastri, Damodar, *Jaina Concept of Godhood in Indian Philosophical Thought (in Sanskrit)*, (Varanasi, Bhārtiya Vidyā, 1985), p. 329.
34. Quoted by Tukol, T. K. in *Compendium of Jainism*, (Dharwad, Karatak University, 1980), p. 72.
35. *Sarvārthasiddhi (Pūjyapād)*, Ed. Shastri, Phoolchandra, (Varanasi, Jñānapeetha, 1971) p. 5.
36. Jain, P. S., 'Jain Ethics and Human Welfare', article Published in *Tulsiprajñā*, Vol. X, No. 1 (April-June, 1984, Ladnun).
37. Murty, T. R. V., 'The Hindu Conception of God' article Published in 'God—The Contemporary Discussion' (Ed.) Frederick Sontag & M. Darrol. Bryant (New York, The Rose of Sharon Press, 1982), p. 27.
38. Hedfield, J. A., *Psychology and Morals* (1936), p. 180.
39. *Iṣṭopadeśa (Pūjyapāda)*, (Bombay, Rāyacandra S. M., 1954).

**'The Right Belief, Right Knowledge and Right Conduct
constitute the way to Emancipation.'**

THE CHRONOLOGICAL LIST OF RAINY-SEASONS PASSED BY MAHAVIRA AND BUDDHA

Buddha—Passed 46 Rainy-seasons after his Enlightenment at different places mentioned below. The order of the rainy-seasons is based on अंगुत्तरनिकाय [अट्ठकथा-२.४.५].

१. ऋषिपत्तन, २. राजगृह, ३. राजगृह, ४. राजगृह, ५. वैशाली, ६. मकुल पर्वत, ७. त्र्यस्त्रिंश, ८. सुसुमारगिरि, ९. कौशाम्बी, १०. पारिलेयक, ११. नाला, १२. वैरंजा, १३. कालियापर्वत १४. श्रावस्ती, १५. कपिलवस्तु १६. आलवि, १७. राजगृह, १८. कालियापर्वत, १९. कालियापर्वत, २०. राजगृह, २१-४५. श्रावस्ती, ४६. वैशाली ।

Mahāvīra—Passed 30 Rainy-seasons after his Attainment of Omniscience at different 30 places. The order of the places is based on the research work of Acharya Sri Vijayendrasūri (See his treatise : Tirthāṅkar Mahāvīra (Bombay, 1963) Vol. II Pages 323-6).

१. राजगृह, २. वैशाली, ३. वाणिज्यग्राम, ४. राजगृह, ५. वाणिज्यग्राम, ६. राजगृह, ७. राजगृह, ८. वैशाली, ९. वैशाली, १०. राजगृह, ११. वाणिज्यग्राम, १२. राजगृह, १३. राजगृह, १४. मिथिला, १५. मिथिला, १६. वाणिज्यग्राम, १७. राजगृह, १८. वाणिज्यग्राम, १९. वैशाली, २०. वैशाली, २१. राजगृह, २२. नालन्दा, २३. वैशाली, २४. वैशाली, २५. राजगृह, २६. नालन्दा २७. मिथिला, २८. मिथिला, २९. राजगृह, ३०. पावा ।

According to the साम्मञ्ज्यफल सुत्त [दीघनिकाय] Ajātśatru called upon Buddha and thereafter (according to tradition) to Mahavira at राजगृह, this should be the last rainy season of Mahavira at राजगृह and as such Mahavira is senior to Buddha by 27 years.

—Parmeshwar Solanki

IMPORTANCE OF ANGAVIJJA—A PRAKRIT TEXT OF ANTIQUITY

□ Dr. Jagdishchandra Jain

(Abbreviations : JSBI=Jain Sāhitya kā Bṛhad Itihāsa, Bṛhat=Bṛhat-samhitā, Aṅga=Aṅgavijjā, Āva Cū=Āvaśyaka Cūrṇi, Niśi Bhā=Nisitha Bhāṣya, Nāyā=Nāyādhammakahāo, Jivā=Jivājivābhigama, PNL=Prākṛit Narrative Literature—Its Origin and Growth, by Jagdishchandra Jain)

The text of *Aṅgavijjā* was first published in Prakrit Text Society in 1957 edited by Muni Puṇyavijaya with the Introduction by Dr. Moti Chand and Dr. V. S. Agrawala. Since then nearly 35 years have passed but no scholar seems to have taken this important publication seriously.

Aṅgavidyā deals with the Science of Divination, not through the movements of stars or constellations or reading the horoscope, but through physical signs and symbols (*aṅga*). The fact that *aṅgavidyā* has been referred to by Kauṭilya in his *Arthaśāstra* (I. 11.17), in the *Manusmṛti* and the Pali Buddhist texts, indicates its popularity in ancient India. Kauṭilya has described *aṅgavidyā* as the science of interpreting the touch of the body by means of which are ascertained the events such as a small gain, burning by fire, danger from thieves, killing by a traitorous person, a gift of gratification, news about happenings in a foreign land, saying 'this will happen today or tomorrow' or 'the king will do this.'

It should be noted, though *Aṅgavijjā* is a Jain work, it does not deal with tenets of Jainism. It is a non-religious popular work serviceable to all. In the Jain tradition, *aṅga* is considered most prominent among all other eight *Mahānimittas*, as prominent as the sun among all appearances or *kevalajñāna* (Perfect Knowledge) among all kinds of knowledge. It has been stated that the text of *Aṅgavijjā* which is based on the works of earlier *ācāryas*, was taught in a *gurukula* to those who led the life of celibacy and honoured gods, guests and monks.

As we shall see presently, *aṅgavidyā* forms a part of a chapter of Varāhamihira's *Bṛhatsamhitā* and the verses of this chapter are almost identical with the verses printed under the First Appendix (*prathamam pariśṣṭam*) of the published *Aṅgavijjā* text (pp. 272-280). In order to

understand a part of the *Āṅgavijjā* text we would recommend the readers to have a thorough grasp of the *Bṛhatsamhitā* and other works of Varāhamihira, who was a renowned scholar and is said to have obtained a special book from the Sun God, and his *guru* was his own father, known as *Āditya-dāsa* (the servant of the Sun).

Similarity between the *Āṅgavijjā* and the *Bṛhatsamhitā*

Though the *Āṅgavijjā* seems to be a much earlier work than the *Bṛhatsamhitā* of Varāhamihira, both are based on the teachings of the earlier traditions. Varāhamihira is known as ज्योतिष् शास्त्र संस्कर्ता, i.e. the compiler of the works on the science of *jyotiṣa*. His work is also known as *Āṅgaviniścaya* which determines the marks of the body (1.9). Obviously both are based on the then-existing ancient literature, providing lot of information with regard to various features of Indian social life.

It is significant that the *Bṛhatsamhitā* has devoted a chapter entitled *Āṅgavidyā* (Signs of Limbs, 51) containing 44 verses. The commentator Utpala, while commenting on this chapter has cited several quotations from Pārāśara which shows that Pārāśara was considered an authority on the subject. In the last verse of the chapter the author declares : "Thus I have explained clearly the science of prognostication of touching the limbs, after carefully examining the treatises on the subject so that the people may attain their cherished object. An intelligent and noble astrologer who knows all this will always be honoured by the kings and the people."¹

Another interesting point about this chapter of the *Bṛhatsamhitā* is that all the 44 verses (except the first one which is interchanged with a somewhat different verse) are identical with the verses printed under the first appendix (*prathamam pariśiṣṭam*) of the *Āṅgavijjā* (pp. 272-280). The title given to this Appendix by late Muni Puṇyavijaya, is '*Saṅgikam Āṅgavidyāsāstram*' (the *Āṅgavidyāsāstra* with commentary) with a footnote saying that he got this incomplete work broken, without a beginning and an end and that he himself had provided this title to the work ग्रन्थोऽयमाद्यन्तविरहितः खण्डित एव प्राप्तोऽस्ति, अतो नामाप्यस्येदं मत्परि-

1. इति निगदितमे तद् गात्र-संस्पर्श-लक्ष्म, प्रकटमभिमताप्यं वीक्ष्य ।

विपुलमतिरुदारो वेत्ति यः सर्वमेतन्नरपतिजनताभिः पूज्यतेऽसौ सदैव ॥ ५१.४४

A manuscript of *Āṅgavidyā* is recorded in the Rajasthan Oriental Research Institute collection, Jodhpur pt. I, 1963, p. 296. It is stated here that the author's work is based on the instructions awarded by Nārada :

अंगविद्यां प्रवक्ष्यामि नारदेन यत्कृतम् ।

अंगदर्शनमात्रेण ज्ञायते च शुभाशुभम् ॥

कल्पितमेव ज्ञेयमिति). At the end of the 44th verse the editor has added : “Further, this work is broken” (अग्रे खण्डितोज्जं ग्रन्थः) M. R. Bhat, the editor of the *Bṛhatsamhitā*, while introducing the chapter on “*Āṅgavidyā*” writes (p. 432) : “The commentator (i.e. Utpala) is of the opinion that this chapter may not be by Varāhamihira himself”, but any way, (in the opinion of the author J.C. Jain ‘the Science of Limbs’ does form a part of the contents of the second chapter (II. 18) of the *Bṛhatsamhitā*.¹

By making a closer study of these two works we notice much similarity between their contents and even the titles of certain chapters are identical. The *Uppātanajjhāo* (53) of the *Āṅgavijjā* is the *Utpātādhyāya* (46) of the *Bṛhatsamhitā*, containing 99 verses, the *adtalikkha* (*antarikṣa*) and *bhomma* (*bhauma*) types of *utpāta* are mentioned in both, then we have the *vuṭṭhīdarajjhāo* in the *Āṅga* (20) and the *Sadyovarsaṇādhyāya* (28) in the *Bṛhat*, the *Jattajjhāo* (the military expedition 147) and the *pavāsajjhāo* (travel, 43) in the *Āṅga* and the *Yogayātrā*,² also known as *Bṛhadyātrā*, *Bṛhadyogayātrā* or *Mahāyātrā* (March under an auspicious constellation) in Varāhamihira and so on. Besides, there are various kinds of terms and expressions with regard to prognostication, augury, omen, portent, bodily signs, dreams and so forth which are identical in the works of Varāhamihira and the Prakrit Jain works written on secular literature.

Jains also observed certain omens and portents. Auspicious *tithi*, *karana* and *nakṣatra* were taken into consideration while undertaking a journey or going to attend some important work. A Jain monk is prohibited to have *svādhyāya* (religious study) at day-break (*pūrvasandhyā*) and evening time (*paścima-sandhyā*, compare the *Sandhyālakṣaṇādhyāya* of the *Bṛhat* (30), a chapter dealing with the indication at dawn and twilight). *Svādhyāya* was prohibited if there was preternatural redness of the horizon (*diśādāha*, compare with the *digdāha* (glow at the horizon 31) of the *Bṛhat*³ the earthquake (*bhūmi-kampa*) with the *bhūkampalakṣaṇādhyāya* (32) in the *Bṛhat*, a fiery meteor falling from

1. However, Pandit Ambalal P. Shah says that the *Āṅgavidyāśāstra* is a separate work by an unknown author (JSBI, V p. 218), which does not seem to hold good.
2. It had a commentary of Sūryadeva Somasuta of Naidhruva gotra. Kern had edited 9 chapters of this work. Now the entire work has been published, ed. by J. L. Shastri, I.A.I.B. p. 27, N.R. Bhat. Intr., p. XIV.
3. नभः प्रसन्नं विमलानि भानि प्रदक्षिणं वाति सदागतिश्च ।
दिशां च दाहः कनकावदातो हिताय लोकाय स पार्थिवस्य ॥—३१.५

the sky (*ukkā-ṣaḍanam*) with the *ulkālakṣaṇādhyāya* (33) of the *Bṛhat*, appearance of an imaginary town in the sky (*gandhavva-nagara*) with the *Gandharva-nagara-lakṣaṇa* (signs of aerial city, 36) of the *Bṛhat*, shower of dust (*paṃsu*) with the *rajo-lakṣaṇa* (38) of the *Bṛhat*, the conjunction of the evening twilight and the moonlight जूवग or यूपक¹ with the *yūpaka* of the *Bṛhat*, and a violent gust of wind (*nigghāta*) with the *nirghāta-lakṣaṇādhyāya* (39) of the *Bṛhat*.²

Seventy-two *kalās* which incorporate the knowledge of various marks and signs such as distinguishing marks (*lakṣaṇa*) of men, women, horses, elephants, kine, cocks, umbrellas, staves, swords and gems etc. have been dealt with under the chapters of *puruṣa* (68), *kanyā* (70), *aśva* (66), *hasti* (67), *go* (61), *kukkuṣa* (63), *chatra* (73), *khadga* (50) and *ratna* (80) etc. in the *Bṛhat*. The *vatthuvijjā* or the science of building, measurement of camps and cities forms another *kalā* which is incorporated under the chapters entitled the *Vāstuvidyā* or architecture (53), containing 125 verses, the *Vṛkṣāyurveda* (55), the *Prāsāda-lakṣaṇa* (56) and the *Vajralepa-lakṣaṇa* (application of hard mortar or cement (57) in the *Bṛhat*.

Here in the chapter of the *Vāstuvidyā* certain important architectu-

1. It is particular conjunction of the class *ākṛti-yoga* (i.e. when all the planets are situated in the 1st, 2nd, 3rd and 4th houses), MW. The term is explained in the *Āva Cū* (II, 221) as follows :

संज्ञप्पभा चंदप्पभा य जेण जुगवं भवन्ति तेण जुवगो । सा य संज्ञप्पभा चंदप्पभा वरिता
फिडंति न नज्जति, सुक्क-पक्ख पाडिवगादिसु तिसु दिण्णेषु, संज्ञच्छेदे य अणज्जमाणे
कालवेलं न मुण्णंति अतो तिण्णिण दिणे पादोसियं कालं न गेण्हंति, तेसु तिसु दिण्णेषु पाद्ये
सियं सुत्तपोरिसि न करेति ।

2. *Nisi Bhā*, 19.6088-6117. *Āva Cū*, II, pp. 217-241, the section on the *asajjhāya-nijjutti* in the *gāthās* is identical, except that the *Niryukti* and the *Bhāṣya gāthās* are mixed up. Also *Mūlācāra* (5.77-79) :

दिसदाह-उक्कपडणं विज्जु चडुक्कासिण्णिद धणुगं च ।
दुग्गंध लज्जदुट्ठिण, चंदग्गहसूर-राहु-जुज्जं च ॥
कलहादि-धूमकेदू धरणी-कंपं च अब्भ-गज्जं च ।
इच्चेवमाइ बहुया सज्जाए वज्जिदा दोसा ॥

While Commenting on the *Bhūkampa-lakṣaṇādhyāya* (32) the commentator *Bhaṭṭotpala* cited the following verses from *Garga* :

निर्घातोल्का-मही-कम्पाः स्निग्ध-गंभीर-निःस्वनाः ।

मेघास्तनित-शब्दाश्च, सूर्येन्दु-ग्रहणे तथा ॥

परिवेषेन्द्रचापं च गन्धर्वनगरं तथा ।

मण्डलैरेव बोद्धव्याः शुभाशुभ-फलप्रदाः ॥२३॥

ral terms have been explained. About the *nandyāvarta* type of house, we are told that "It is a house which has verandahs starting from the walls of the halls and going to their respective extremities from left to right, it should have only three doors, leaving off the western one."¹ Then comes the definition of the *vardhamāna*² (53.33) the *svastika*³ (53.34) and the *rucaka*¹ (53.35) types of mansions, of which the *nandyāvarta* and the *Vardhamāna* are considered to be the best, the *svastika* and the *rucaka* the moderate and the *sarvatobhadra*⁵ as beneficial for kings, ministers and other officials.

1 नन्द्यावर्तमलिनैः शाला कुड्यात् प्रदक्षिणान्तर्गतैः ।

द्वारं पश्चिममस्मिन् विहाय शेषाणि कार्याणि ॥ (५३.३२)

The *nandyāvarta*, the *vardhamāna* and the *svastika* are incorporated among 8 lucky signs (*aṣṭamaṅgala*). They are : *svastika*, *śrīvatsa*, *nandyāvarta*, *vardhamāna*, *bhadrāsana*, *kalaśa*, *darpaṇa* and *matsya-yugma* (*Nāyā*. I.32, *Rāyapasenijja* (47), *Jīvā* (142), *Ovāya* (32). The 8 auspicious marks are carved in the Mathura art. *Svastika*, *vardhamāna* and *nandyāvarta* are referred to in the *Mahābhārata*. The *Tiloyapa-ṇṇatti adhikāraṇa* (4) of Yativṛṣabha has recorded the following 8 *maṅgalas* : *bhṛṅgāra*, *kalaśa*, *darpaṇa*, *vyajana*, *dhvajā*, *chatra*, *cāmara* and *supraṭiṣṭha*. Compare the following list provided in Brāhmanic tradition :

- (a) मृगराजो वृषो नागः कलशो व्यजनं तथा ।
वैजयन्ती तथा भेरी दीप इत्यष्टमङ्गलम् ॥
- (b) लोकेऽस्मिन्मङ्गलान्यष्टौ ब्राह्मणो गौर्दुर्ताशनः ।
हिरण्यं सपिरादित्य आपो राजा तथाष्टकम् ॥

In the Mathura inscriptions, Ara, the 18th *Tirthankara*, is known as *Nāndyāvarta* (*arahato Nāndiāvatasā pratimā*, W. Schubring, *The Doctrine of the Jaina*, 49). In the *Āṅguttaranikāya-Aṭṭhakāthā* (I, 265), it is a spacious large fish. In the *Mahābhārata*, it is a kind of diagram. In the *Jīvā*, it is a mansion.

2. It is a kind of house having no entrance on the south-side in the *Bṛhat*. Abhayadeva in his commentary on the *Ovāya* (31) has explained the term as follows : an earthenware vessel (शराव) or a man being carried on one's shoulder (स्कन्धारोपित पुरुष) or the five *svastikas* (स्वस्तिक-पञ्चक) or a particular mansion (प्रासादविशेष).
3. A mansion or a temple of a particular form in the *Bṛhat*. It is also a kind of mystical cross or mark made on persons or things to denote good luck.
4. A building or temple having terraces on three sides and closed only on the north-side in the *Bṛhat*.
5. A building having continuous galleries around in the *Bṛhat*.

Besides architecture, sculpture and town-planning, both the works have common topics such as eroticism (*Aṅga* 41, *Bṛhat* 74), list of gods and goddesses, various kinds of omens through birds and beasts. Here we have a store of knowledge of various things and objects concerning cultural life of ancient Indian people.

The *Aṅgavijja* is an ancient Prakrit Jain text which like the *Joisakaranda* is a constituent of the *Paiṅṇā* literature. Since it is a compiled work based on the teachings of the early *ācāryas*, it deals with many important subjects, besides the science of prognostication, which are essential to understand life. It contains 60 *adhyāyas* written in Mahārāstrī Prakrit. The various grammatical forms used here are not in consonance with the rules of grammar.¹ The 9th chapter deals with gods and goddesses, including the list of 'foreign goddesses' such as the Apalā (identified with the Greek goddess Pallas Athene), Anādita identified with the Avestic goddess Anahita), Airāṇī (identified with the Roman goddess Irene), Timisrakeśī (identified with the nymph Themis) and the Śālimālinī (identified with the moon-goddess Selene). Among other non-Jain popular deities we have Śiva, Senāpati Kārtikeya, Vaiśravaṇa, Varuṇa, Skandha, Viśākha, Brahma, Indra, goddess of crematorium (*śmaśāna*), goddess of excrement (*varca*), goddess of dung-hill (*ukku-ruḍīkā*) and so on.² The 33rd chapter has supplied an important list of boats and ships which indicates the maritime trade carried on by sea-faring merchants in those days. The list includes the *koṭṭimba* (identified with Cotymba), *tappaka* (identified with trappaga) and *saṅghāḍa* (identified with sangar ship), mentioned by Periplus in his *The Erythrean Sea*.³ The 55th chapter deals with the ways to find out the wealth stored underground. The 58th chapter discusses certain aspects of Jainism, and in the last chapter we are told the ways to have the knowledge of one's previous birth. □

1. See Muni Puṇyavijaya, Preface of *Aṅgavijjā*.
2. See author's *PNL*, pp. 123-125.
3. *Ibid*, pp. 172.

JAINISM & BUDDHISM

□ Dr. N. K. Dash

[This is in continuation to *Jainism : An old Independent Religion* (Pages 3 to 8). The writer says that Jainism is not a division of Buddhism. The former was existing long before Buddhism was founded by Lord Buddha. It is hoped that the topic will be discussed and the antiquity of Jainism will be established. —Editor]

M. Winternitz, the famous Austrian Scholar, suggests that “the religion of the Jainas, Jainism, has so much in common with Buddhism that, for a long time, it was considered merely as a Buddhist Sect (History of Indian Literature, Vol II, p. 408). Moreover, W.S. Lilly in his treatise entitled *India and its Problems* (p. 144) opines that “Buddhism survives in the land of its birth in the form of Jainism. What is certain is that Jainism came into notice when Buddhism had disappeared from India”. Again, Wilson remarks that from all credible testimony, therefore, it is impossible to avoid the inference that the Jainas are a sect of comparatively recent institution, who first came into power and patronage about the eighth and ninth century : they probably existed before that date as a division of the Buddhas, and owed their elevation to the suppression of that form of faith to which they contributed (vide, C.J. Shah, *Jainism in North India*, p. xviii).

We do not agree with the statement of various scholars stated above. Because, Buddhism was founded by Lord Gautama Buddha during the 2nd half of the 6th century B.C. (*Iconographic Dictionary of the Indian Religion*, Costa Liebert, Delhi, 1986, p. 49) and Jainism was founded much earlier than this period i.e. during 3000 B.C. On the other hand, it is a settled fact that Pārśva, the twentythird *Tirthankara* of the Jainas, is historical person, and Mahāvira, like any other Jina, enjoyed no better position than that of a reformer in the galaxy of the *Tirthankaras* of the Jainas. (Elbahms—Hemachandra’s *Abhidhāna Chin-tāmaṇi* v. 26.27.28).

The Jainas as Nigaṇthas

According to Jaina Scriptures Jaina Monks and Nuns were known *nigaṇthas* and *nigaṇthīs*—(Sanskrit *nirgranthas*)—etymologically meaning without any ties. This is also apparently corroborated by the Buddhist canon ; Varāhamihira and Hemachandra call them *nirgranthas*, whereas

other writers substitute synonyms, such as *vivasana*, *muktāmbara*, etc. The name *nirgrantha* for the Jaina religious men occurs also in the edicts of Aśoka under the form of *nigaṇṭha* (Buhler ; E.I. ii. p. 272). The *piṭakas* of the Buddha often mention the *nigaṇṭhas* as opponents of Buddha and his followers. Wherever they are mentioned in the Buddhist canon, it is mostly to refute their belief, and thus to assert the superiority of the faith of Lord Buddha. These facts prove two things ; that the Jaina monks were called *nigaṇṭhas*, and that, so far as the Buddhist writings reach, the Jainas and Buddhists were great rivals (Mittra, R ; The Sanskrit Buddhist Literature of Nepal, Calcutta, 1882 p. 11).

Jnātiputta/Nātiputta

Siddhartha, the father of Mahāvira, was of *kāśyapa* gotra, belonging to the clan of the *Jñātikṣatriyas*. For this Mahāvira was known as *Jñātiputra* in his own days. At present, in Pali, *Nāta* is equivalent of *jñāti*, and hence *jñātiputra* means *Nātiputta*, which more resembles *Nāyaputta*, “a Biruda of Mahāvira used in the *Kalpa-sūtra* and the *Uttarādhyayana sūtra*” (Jacobi, *Kalpasūtra*, Int. p. 6). Thus we may conclude that the titles like *nigaṇṭhanātha*, *nigaṇṭhanātha nātiputta*, and also merely *nātiputta* refer to none else but Mahāvira. Again there is a reference to *nātiputtas* system in the *Sāmaññaphala sūta*, as : *catuyāma saṁvāra saṁvutto*, which has been interpreted by Jacobi as referring to the Jaina term *cāturyāma*. “It is applied”, says Jacobi, “to the doctrine of Mahāvira’s predecessor, Pārśva, to distinguish it from the reformed creed of Mahāvira, which is called *Pañcayāma Dharma*.” (Jacobi, I.A. ix, p. 160).

Thus, the Buddhist *suttas* recognise the historical character of Pārśvanātha’s life. Besides this there is one thing which sounds very strange when we consider all these references about *Nātiputta* and his philosophy that are available in the Buddhist canon. With all these refutations and references about them in the canonical works of the rival faith the Jainas could ignore their adversaries. It may be argued that the *Nirgranthas* were considered by the Buddhas as an important sect, while the *Nirgranthas* in their turn did not think it worthwhile to take any notice of the sister faith. These strange coincidences of both the Buddhist and the Jain literature go a long way to prove the existence of Jainism much before the advent of Buddha and Mahāvira. Now it may not be out of context to quote some lines of the great scholar Jacobi in support of our view. He says : “The *nirgranthas* are frequently mentioned by the Buddhists, even in the oldest parts of the *piṭakas*. But I have not yet met with a distinct mention of the Buddhas

in any of the old Jaina *sūtras*, though they contain lengthy legends about Jamāli, Gośala and other heterodox teachers. It follows that the *Nirgranthas* were considered by the Bauddhas as an important sect, while the *Nirgranthas* could ignore their adversaries. As this is just the reverse position to that which both sects mutually occupy in all after times, and as it is inconsistent with our assumption of a contemporaneous origin of both creeds, we are driven to the conclusion that the *Nirgranthas* were not a newly founded sect in Buddha's time" (I.A. IX. P. 161). Thus we may safely suggest that Jainism was never a branch of Buddhism, but it is in India from pre-Vedic period.

The Features of the Śramaṇic Ideology

The signs and features of the *śramaṇic* ideology being common to both i.e. Jainism and Buddhism, it is not difficult to suppose that rules and regulations governing outward behaviour as well as rites and rituals would also be broadly common. Despite this general position, the formation of outward modes of conduct in both the religions has been moulded according to the constitution of nature and temperament of Mahāvira and Buddha respectively and this has been responsible for the difference that exists between the two religions. In Pārśva and his tradition renunciation and austerities had a place, indeed, but *severity* in it was injected by Mahāvira. Pārśva allowed his monks to put on clothes while Mahāvira prescribed nudity. According to Mahāvira, to wear clothes is not necessary ; but it is one's weakness. But in the concept and constitution of the *saṅgha*, Mahāvira has given adequate place to both the categories, - those who believed in putting on clothes and those who did not, he, however, had his preference for the latest group.

Nudism

Buddha, however, specifically laid down that nothing should be done to violate the existing popular custom (*yadyāpi sūddham lokaviruddham nācaraṇīyam nādaraṇīyam*). Thus he gave no quarter to nakedness, bathlessness, and uncleanness which were disapproved by the people. On the other hand, Mahāvira directly linked the abandonment of body with desirelessness and therefore, he accepted as natural corollaries, nakedness, bathlessness and uncleanness.

On one hand it is claimed that the last *Tirthaṅkara* himself has established irrefutably the connection of equipoise and omniscience with rigid physical mortification. On the other, Buddha has proclaimed that highest intelligence cannot be achieved through austere penances. Buddha practised penance for a pretty long time so much

so that his body was reduced to a mere bag of bones which audibly cracked. At last he realized that the attainment of supreme intelligence is in no way and not at all dependent on hard austerities. He, therefore, abandoned the way of life based on this and adopted, instead, meditation and mental tranquillity to reach the highest peak of perfection and he did reach. These two dissimilarities of experience which these two great personalities had possessed, became crystalized in their groups as they were transmitted through tradition as was natural. Elaboration of the concept of physical mortifications as incorporated in such phrases as "*dehaduḥkham mahāphalam*" is found there in the Jain scriptures while in the Buddhist works it is gradually ignored.

Overcoming the passions

The attempt of Mahāvīra was mainly directed at scoring a victory over love and hatred and such other pairs of passions. As a result of this, omniscience followed. This made it obligatory for him not to do anything that came in this way of his. In order to achieve this, he wandered from one place to another and undertook long fasts. This made it possible for him to obtain complete victory on attachment and aversion but his over-all intelligence never went beyond the mark reached by Pārśva. In other words Mahāvīra followed metaphysical and philosophical ideologies the foundation of which was laid by Pārśva, two and a half centuries before and realized what was latent to him by completely mastering vicious pairs of passions such as love and hatred etc. It is because of this that Mahāvīra's vision of truth does not differ from that of Pārśva. Mahāvīra's principle aim was to root out love and hatred, attachment and aversion. He never hankered after originating a new line of thinking.

Against the above, Buddha concentrated on the attainment of supreme intelligence. He wanted, no doubt, to strip himself of passions and all that but his main anxiety was the cultivation of intelligence to a climax. Buddha came into contact with many erudite and contemplative persons in his effort for getting supreme intelligence. Having tested the experiences which the others had shown him, Buddha gave them up one after another. He never had satisfaction with what he got from others. Finally, about the realization of truth which he worked out in his own way through his own method of contemplation, he put forth his claim in clear terms that what he has achieved was extraordinary and was never achieved by any one before him. Thus, Buddha's endeavour to cultivate perfect and

supreme intelligence was his own and his vision also was his own. Later on blood and obvious efforts seem to have been made by the monks to develop intelligence to its logical and legitimate limit. This inevitably resulted in laying down the foundations of a number of ideologies depending upon the philosophical basis that developed from the subtle form to the subtlest as time passed. Thus came into existence *Vijñānavāda* and *Śūnyvāda* which made the gradual progress and growth of intelligence to its final degree, its avowed aim and object. In spite of the fact that middle won at the centre in the theory of cultivation of supreme intelligence even, the freedom which the Buddhist monks took on the large canvas stretching from *Hīnayāna* to *Mahāyāna* so far the philosophical speculation is concerned is an unparalleled example of *Prajñāmārga* in the history of Indian philosophical system. It is equally clear that the Jain saints never enjoyed such a license and this proves our view that the aim of Jainism is a conquest of passions and not the cultivation of supreme intelligence as that of Buddhism.

Conclusion

Thus, the central aim of Jainism differs from Buddhism and the former is not division of the latter. The former was existing in the pre-Vedic India, while the later has been founded by Buddha during 6th century B.C. Further Jainism may also be regarded as a parallel religion to Hinduism from 3000 B.C, but we are unable to determine the exact date of the origin of the particular religion due to the lack of proper evidences. □

प्रस्तावेऽपि न दोषान् जानन्नपि वक्ति यः परोक्षस्य ।

प्रथयति गुणांश्च तस्मै सुजनाय नमः परहिताय ॥

He who, although knowing the faults of others, yet does not mention them, even when an opportunity offers, but rather proclaims their good qualities, to that good man let honour be paid as to a benefactor of his kind.

—Varāhamihira.

Asokan Message : Towards mutual understanding of Religious Communities

Generally speaking religious tolerance in India has been rooted in its soil. And that is the reason why India has been and is a hospitable land for all religions. Ashoka expressed the virtue of mutual understanding and religious co-existence pointedly in his edicts. The Emperor, who had experienced the horrors of war born of mutual hatred, in his rock-edicts says that the real conquest is the conquest by righteousness (धम्म). By righteousness is meant the right mental attitude which includes also the understanding of others' viewpoint. In one of his edicts Asoka expresses his desire that men of different religious denominations should live together (सन्वे पासंड वसेयु) and cultivate what he calls the essence (सार) of all religions—the purification of mind (भावसुद्धि) and self-control (संयम). He further suggests that there should be mutual honouring of all religions. One should not revere one's own religion only. Asoka says that not only should one not indulge in disparagement of other sects but one should hearken to others' view-points also. He believed that concord (समवाय) was the basis of all religions and people should willingly hear each other's doctrine (धम्म).

—N. H. Samtani

PROSODIAL PRACTICE OF SIX JAINA POETS (10TH TO 13TH CENTURY A.D.)

□ *Nagendra Kr. Singh*

[Mr. N. K. Singh attempts to analyse and ascertain the metrical practices of Siddha Hemacandra and five others of 10th—13th centuries A.D. It provides us idea which metres they employed for sustained narration and which metres were used for variation. —Editor]

1. Amarasandra (13th century, middle) :

He was a Jain monk, pupil of Jinadattasūri of the Vāyāḍa Gaccha. He was a voluminous writer and lived during the reign of King Viśāladeva of Abhilavāḍ (A.D. 1243 to 1261). *Kāvyaikalpalatā*, *Padmānandakāvya* and *Bālabhārata* are his important works.

Bālabhārata is a *mahākāvya* on the theme of the *Mahābhārata*, as its name suggests. It contains 19 cantos in imitation of 18 Parvans of the original epic together with the *Harivaṃśa*. The total number of stanzas in it is 5482. Published in the *Kāvya-mālā*, No. 45, Bombay, 1894.

The author employs 23 metres in all in this poem. The following metres are used for a continued narration in the cantos :—*Anuṣṭubh* (14 times), *Āryā* (once), *Upajāti* (13 times), *Drutavilambita* (once), *Pramitākṣarā* (once), *Mañjubhāṣiṇī* (once), *Mālinī* (once), *Rathoddhatā* (thrice), *Lalitā* (once), *Vaṃśastha* (once), *Vasantatilakā* (twice), *Viyoginī* (twice), and *Svāgatā* (4 times).

2. Bālachandrasūri (13th century, 2nd half) :

He was the pupil of Haribhadrasūri of the Candra Gaccha. He was a Jain monk patronized and respected by Vastupāla, the prime minister of King Viradhavala of Dholka. He composed the poem *Vasantavilāsa* to glorify this minister at the request of the latter's son Jaitrasinha, after his death, i.e., after 1240 A.D. Another work of the author is a drama called *Karuṇāvajrāyudha*. The *Vasantavilāsa Kāvya* contains 14 cantos and a total of 1007 stanzas. It is published in the Gaek. G. Series. No. VII, Baroda, 1917.

Bālacandra employs 25 different metres, 4 among them are *Mātrā Vṛttas*, namely *Gīti*, *Pādākulaka*, *Mālādhravaka* and *Vidyādharaḥāsa*, the

last being an *Ardhasama* metre. Besides *Upajāti*, which is a mixture of *Indravajrā* and *Upendravajrā*, our author uses *Vamśamālā*⁴ which is a similar mixture of *Indravamśā* and *Vamśastha*. The following are used for the composition of a canto : *Anuṣṭubha* once, *Upajāti* 4 times, *Drutavilambita* once, *Rathoddhatā* twice, *Vamśamālā* once, *Vamśastha* once, *Śārdūlavikrīḍita* once, and *Svāgatā* once. But, for a continued narration extending over from 11 to 26 stanzas, he has also used *Puṣpitāgrā*, *Pṛthvī* and *Pramitākṣarā*.

3. Dhanañjaya (10th century)

He was a Jain monk of the Digambara sect, generally identified with one Śrutakīrti who is mentioned as the author of a *Rāghavapāṇḍavīya Kāvya* by Abhinava Pampa in the 1st half of the 12th century. This Śrutakīrti Dhanañjaya is supposed to have lived sometime between 1123 and 1140 A.D.

The *Dvisandhāna* or the *Rāghavapāṇḍavīya* is a very artificial poem being doubly applicable to the stories of the two epics. It contains 18 cantos and a total of 1106 stanzas. At I, 49 *Yati* and *Chandobhaṅgas* are strongly denounced. Another work of the author is *Nāmamālā* in which he mentions himself along with Akalaṅka and Pūjyapāda. The poem is published in the *Kāvyamālā*, No. 49, Bombay, 1895.

Dhanañjaya employs 31 different metres, of which 15 occur less than 10 times each and 10 less than 5 times each. When compared with Kavirāja, Dhanañjaya is a more sustained versifier and can have a successful double application in the same metre when continuously employed for the composition of a canto. Yet, Kavirāja excels Dhanañjaya in sheer artificiality and *Śleṣa*. Dhanañjaya uses *Anuṣṭubh* thrice, *Udgatā* once, *Upajāti* thrice, *Puṣpitāgrā*, *Pramitākṣarā*, *Praharṣiṇī*, *Mattamayūra*, *Rucirā* and *Viyoginī* once each and *Vamśastha* twice, continuously for the composition of a canto. He uses *Viyoginī* for the pathetic description of *Vanavāsa-gamana* in canto 4.

4. Haricandra (10th century, 1st half)

He is a Digambara Jain writer who has imitated Vākpati's *Gauḍavaho*. He is sometimes identified with the author of the *Jivandharacampū*. He is also supposed to have been referred to by Rājasekhara in his *Karpūramañjarī*, along with other poets like Nandicandra, Koṭṭiśa and Hāla. Vāgbhata, the author of the *Nemini-rvāṅhakāvya*, seems to have imitated Haricandra's *Dharmaśarmābhayudayakāvya*.

Dharmaśarmābhayudaya is a poem in 22 cantos on the life of the Tirthankara Dharmanātha. It contains a total of 1765 stanzas. It is published in the *Kāvyamālā*, No. 8, Bombay, 1888.

The author employs 25 different metres for this poem, of which 7 are used only once each and for less than 5 times each. He employs

Anuṣṭubh for a continued narration in 3 cantos, *Upajāti* in 4 cantos, *Vaṁśastha* in 3 and *Drutavilambita*, *Puṣpīāgrā*, *Praharṣiṇī*, *Mālinī*, *Rathoddhatā*, *Vaṁśamālā*, *Vasantatilakā*, *Śālinī* and *Svāgatā* in 1 canto each.

5. Hemacandra (12th century)

He is a very voluminous and many-sided writer among the Jain monks. He lived in Gujrat during the reigns of kings Jayasimha and Kumārapālā in the 12th century A.D. Among his more important works may be mentioned the 3 *Anuśāsanas* viz., of *Śabda*, *Kāvya* and *Chandas*, as also his two great poems, the *Dvyāśraya* and the *Triṣaṣṭi-śālākāpuruṣacarita*. The latter is a narrative poem with a preponderance of the *Anuṣṭubh* and hence I have selected only the former for my analysis. In his *Chandānuśāsana* Hemacandra has composed stanzas to illustrate each one of the numerous metres in Sanskrit which he has defined. But these cannot be taken into consideration while we are examining his actual practice as reflected in his poems.

The *Dvyāśrayakāvya* contains 20 cantos and a total of 2430 stanzas. It is the first part of the author's *Kumārapālacarita*, the 2nd part being in Prākṛit and consisting of 8 cantos.

28 different metres are employed in this poem, of which 14 are used for less than 5 times each. *Anuṣṭubh* is the predominant metre used for the composition of 10 cantos and *Upajāti* for 4. *Aupacchandosika* and *Kekīrava* are used for 1 canto each. *Svāgatā* is used for 100 stanzas at a stretch in the 8th canto, and *Śālinī* for 20 in the same canto.

6. Viranandin (10th century, 2nd half)

He was the pupil of Abhayanandin of the Deśī Gaṇa, and was a Digambara writer. He is probably the same as the Viranandin mentioned along with Abhayanandin as his venerable predecessors by Cāmuṇḍarāya in his *Cāmuṇḍarāyapurāṇa* in A.D. 978. His *Candra-prabhacarita* is mentioned by Vādirāja in his *Pārśvanāthacarita* composed in Śaka 847.

Candraprabhacarita is a *mahākāvya* in 18 cantos containing a total of 1697 stanzas. It describes the life of the Tirthamkara Candraprabha. The poem is published in the *Kāvya-mālā*, No. 30, Bombay, 1912 (4th edition).

28 different metres are used in this poem. Of these 7 are used only once each, and 5 are used for less than 10 times each. The following metres are employed for the composition of a canto : *Anuṣṭubh* thrice : *Vaṁśastha* and *Viyoginī* twice each : *Uḍgatā*, *Drutavilambita*, *Puṣpīāgrā*, *Pramitākṣarā*, *Praharṣiṇī*, *Mālabhārinī*, *Rathoddhatā*, *Vasantatilakā*, and *Svāgatā* once each. Besides these *Upajāti*, *Praharṣiṇī*, *Viyoginī* and *Śālinī* are also used continuously for a group of 9 to 26 stanzas at a stretch in other cantos.



लेखक | the contributors

१. श्री विश्वनाथ मिश्र, रीडर, जैन विश्व भारती संस्थान, लाडनू
२. समणी मंगलप्रज्ञा
३. साध्वी राजीमती
४. डॉ० के. आर. चन्द्र, अध्यक्ष, प्राकृत-पालि-विभाग, भाषा विभाग, गुजरात-विश्व विद्यालय, अहमदाबाद-१
५. श्री मांगीलाल मिश्र, प्राध्यापक (संस्कृत) दधीचिनगर, सीकर
६. साध्वी डॉ० सुरेखाश्री, द्वारा दलपतभाई लालभाई भारतीय संस्कृति विद्या मन्दिर नवरंगपुरा, अहमदाबाद-३८० ००६
७. मुनिश्री जीवोजी
८. श्री अमृतलाल शास्त्री, व्याख्याता, ब्राह्मी विद्यापीठ, लाडनू
९. श्री आनंद प्रकाश त्रिपाठी 'रत्नेश' ,, ,, ,,
१०. श्री रामस्वरूप सीनी, शोध अधिकारी, जैन विश्व भारती, लाडनू
११. डॉ० आनंद मंगल वाजपेयी, अध्यक्ष, स्नातकोत्तर हिन्दी विभाग, राजकीय महाविद्यालय, डीडवाना
12. Dr. Premsuman Jain, Head, Deptt. of Jainology & Prakrit, Sukhadia University, Udaipur.
13. Dr. N. K. Dash, B. L. Institute of Indology, Alipur, Delhi—110036.
14. Dr. J. C. Jain, 1/16 Malhar Co-Housing Society, Bandra Reclamation, (W), Bandra, Bombay—50,
15. Mr. N. K. Singh, Gheghata, Post-Govind Chok, Saran (Bihar)
16. Mr. Jagat Ram Bhattacharya, Lecturer, Prakrit Dept., JVBI Ladnun.

What others say about Tulsi-Prajya

Dear Dr. Solanki,

I acknowledge with thanks the receipt of your new (April-June 1991) issue of your journal **Tulsi Prajya**.

This issue seems to be a special number on the date of Mahāvira.

In my Introduction to the translation of the Vāyu Purāṇa (Pub. Motilal Banarsidass, Delhi), I have shown that the so-called “Sheet-anchor of Indian History” (The contemporaneity of Alexander the Great and Chandragupta Maurya) as proposed by Max Mueller and slavishly accepted by Indian scholars since then, is totally wrong. Chandragupta Maurya was coronated in circa 1530 B. C.

yours sincerely

G. V. Tagare, M. A., Ph. D.

Madhav Nagar Road,
Sangli—416416

To

The Editor
Tulsi Prajna
Ladnun
Sir,

I have been fortunate to go through your edition of April-June 1991. The edition contains several topics, of interest regarding different aspects in which Jains could be interested. It also contains an English section.

I understand that at Ladnun Jain Vishva Bharti, is now recognised as Deemed University. This journal which is published every three months could now become a mouth-piece of the Deemed University and it can publish news of the Deemed University which might cover various activities conducted by the University. It also can publish various articles on the subjects which are taught at the University and an effort can thus be made by inviting research scholars to contribute articles to this magazine so that professors and students may find the journal useful in their studies.

I wish that the journal may be useful to all those who have interest in Jain Vishva Bharati and wish this journal a bright future.

9, Mayur Park Society
Memnagar, Ahmedabad-52

S. L. Talati
Retd. Judge, Gujarat High Court

प्रिय डाक्टर सोलंकी !

प्रज्ञा का नया अंक मिल गया है। धन्यवाद। अब मन में कोई उत्साह शेष नहीं रह गया है, जिससे 'वीर निर्वाण संवत्' पर निबन्ध लेख लिख सकूँ। अलबत्ता मैं अपनी दो रचनाओं में इस 'चर्चा' का विश्लेषणात्मक उल्लेख करूँगा।

प्रज्ञा के वर्तमान अंक में छपा आपका लेख 'हरिभद्र सूरि' अच्छा लगा—मैं आपके संदर्भ-संचय को—प्रमाण के तौर पर उद्धृत कर रहा हूँ।

—चन्द्रकांत बाली

एन. डी/२३ विशाखा इन्क्लेव

पीतमपुरा, देहली-३४

आदरणीय डॉ० सोलंकीजी

जय जिनेन्द्र !

आप के द्वारा प्रेषित 'तुलसी प्रज्ञा' का अप्रैल-जून, १९९१ का अंक आज ही प्राप्त हुआ है। पिछले कुछ वर्षों से जैन-समाज में दर्शन तथा प्राकृत और अपभ्रंश भाषा में शोध-कार्यों को प्रोत्साहन देने हेतु कुछ अच्छे स्तर की पत्रिकाओं का प्रकाशन हो रहा है, किन्तु इतिहास और पुरातत्त्व की दृष्टि से नए तथ्यों पर विचार प्रस्तुत करनेवाली अच्छे स्तर की पत्रिका की कमी खटक रही थी। तुलसी प्रज्ञा की नवीन अंक में प्रस्तुत सामग्री से आप ने इसकी पूर्ति का अच्छा प्रयास किया है। बधाई स्वीकार करें।

मैंने यद्यपि सरसरी दृष्टि से ही अंक देखा है, तथापि तीन लेखों ने विशेष ध्यानकर्षण किया है। पहला—वीर निर्वाण काल (लेखक—श्री उपेन्द्रनाथ राय), दूसरा—सम्भ्राट् समुद्रगुप्त और उसका राजवंश (ले० डॉ० देवसहाय) तथा आपका लिखा संपादकीय—वीर निर्वाण संवत्। भगवान् महावीर के निर्वाण-काल को लेकर प्रारंभ से ही विद्वानों में विचार भेद रहा है। प्रख्यात पुरातत्त्व वेत्ता डॉ० स्वराजप्रकाश गुप्ता से चर्चा हुई तो ज्ञात हुआ कि उनका भी दृढ़ विश्वास है कि महावीर २५०० वर्ष से कई शताब्दी पूर्व हुए थे।—इसी कालगणना पर शोध की दृष्टि से आप का लेख 'आचार्य हरिभद्र सूरि का काल-संशोधन' नवीन तथ्यों की ओर ध्यान आकर्षित करता है। पुनः बधाई।

हृदयरज जैन

महासचिव, ऋषभदेव प्रतिष्ठान

दिल्ली-६

राज्यस्थान राज्य अभिलेखागार, बीकानेर के निदेशक महोदय ने मंत्रीजी जैन त्रिभुवन भारती, लाडनू के नाम एक अर्द्धशासकीय पत्र क्रमांक २६६२ दिनांक २६-७-६१ लिखा है जो अत्रिकल रूप में इस प्रकार है—

आदरणीय श्री बेंगाणीजी,

‘तुलसी प्रज्ञा’ नये परिवेश में देखने को मिली। देखकर और पढ़कर बड़ी प्रसन्नता हुई। सभी लेख उत्तम कोटे के हैं किन्तु ‘आचार्य हरेभद्रसूरि का काल-संशोधन’ व ‘उपाध्याय यशोविजय कृत पातंजल योग सूत्र वृत्ति’ में वर्णित जैन कर्म-सिद्धांत आदि लेख अपनी विलक्षणता एवं नवीन जानकारी लिये हुए हैं। इस प्रकार लेखों के चयन के लिये सम्पादक महोदय साधुवाद के पात्र हैं। अगर इसी प्रकार प्रकाशन होता रहा तो वह समय दूर नहीं जब पत्रिका देश और विदेश—दोनों में अपना विशेष स्थान बना सकेगी। मैं पत्रिका के उज्ज्वल भविष्य की कामना करता हूँ।

सादर,

भवदीय

जे. के. जैन

डाइरेक्टर,

राजस्थान स्टेट आर्काइवज, बीकानेर-३३४००१

Registration Nos. [

Postal Department : NUR—08
Registrar of Newspapers for India : 28340/75

Vol. XVII, No. 2

TULSI-PRAJÑĀ

July-Sept., 1991

प्रकाशक-मुद्रक : रामस्वरूप गर्ग द्वारा जैन विश्व भारती, लाडनू-३४१३०६ के लिये
जैन विश्व भारती प्रेस, लाडनू में मुद्रित ।